पथ की खोज
(नोट- अंतिम प्रवचन अब नए संस्करण में नहीं है।)

प्रवचन-क्रम

1. आनंद हमारा स्वरूप है..2
2. आत्म-दर्शन...12
3. मूर्च्छा परिग्रह..23
4. जीवन-दर्शन...38
5. पथ की खोज..49
6. सूर्य की ओर उड़ान..82
7. सत्य से अज्ञात सागर का आमंत्रण...100

पथ की खोज
पहला प्रवचन

आनंद हमारा स्वरूप है

प्रिय आत्मन्!
मेरा आनंद है और मेरा सौभाग्य, उस अमृत के संबंध में मैं थोड़ी सी बातें करूं। उस स्वार्थ के संबंध में मैं थोड़ी सी बातें करूं, उस अनुभूति के संबंध में थोड़ी सी बातें करूं जिसको कि शब्द में बांधना मुश्किल है। मनुष्य के पूरे इतिहास में कितने लोग प्रकाश को उपलब्ध हुए हैं, कितने जीवन उनसे प्रकाशित हो गए हैं, कितनी चेतनाएं मृत्यु के घेरे को छोड़ कर अमृत के जीवन को पा गई हैं, कितने लोगों ने पशु को नीचे छोड़ कर प्रभु के उच्च शिखरों को उपलब्ध किया है। लेकिन उस अनुभूति को, उस संक्रमण की अनुभूति को आज तक शब्दों में बांधा नहीं जा सका है। उस अनुभूति को जो परम जीवन को उपलब्ध होने पर छा जाती है, उस लक्ष्य को, उस आनंद को, उस पुलक को जो पूरी ही चेतना को नये लोक में बहा देता है, उस संगीत को जो सारे विकास को विसर्जित कर देता है, आज तक शब्दों में बांधा नहीं जा सका है। आज तक कोई भी शब्द उसको प्रकट नहीं कर सके। आज तक कोई शास्त्र उसको कह नहीं सका। परलोक जो कहा नहीं जा सकता उसे कैसे कहूंगा? तब मैं पूछता हूं अपने से कि क्या बोलूं? निश्चित आपको बोलना। बोलना धार्मिक नहीं है, बोलना धार्मिक अनुभुति में कोई संक्रमण है। कोई संवाद नहीं है धार्मिक। बोलने के माध्यम से, विचार के माध्यम से, तर्क-चिंतन के माध्यम से हम उसे नहीं पा सकते जो उन सबके पीछे खड़ा है।
जिसमें चिंतन उठता है और जिसमें चिंतन विलीन हो जाता है, जिससे विचार
के बबूले उठते हैं और जिसमें विचार के बबूले फूट जाते हैं, जो विचार के पहले भी है और विचार के बाद भी होगा, उसे पकड़ लेने का विचार का कोई रास्ता नहीं। इसलिए मैं कोई उपदेश दूं, कुछ समझाऊं--दंभ, अहंकार, भ्रांति और अज्ञान होगा। फिर मैंने अनुभव किया, किसी को उपदेश देना किसी का अपमान करना है। किसी को शिक्षा देना यह स्वीकार कर लेना है कि दूसरी तरफ जो है वह अज्ञानी है। इस जगत में कोई भी अज्ञानी नहीं है। इस जगत में किसी के अज्ञानी होने की संभावना भी नहीं है, क्योंकि हम स्वरूप से ज्ञानवंत हैं। मैं जो हूं वह स्वरूप से ज्ञानवंत है। अज्ञान हमारी कल्पना है। अज्ञान हमारा आरोपित है। अज्ञान हमारा अर्जित है। हम ज्ञानवंत थे। और इस सत्य को केवल अगर उदघाटित कर दें अपने भीतर तो ज्ञान कहीं बाहर से लाना नहीं होता है। जो भी बाहर से आया वह ज्ञान नहीं है। जो बाहर से आ जाए वह ज्ञान नहीं हो सकता। बाहर से आया हुआ सब अज्ञान है। मैं तो परिभाषा ही यही कर पाया जो बाहर से आए--अज्ञान, जो भीतर से जाग्रत हो--ज्ञान।
एक साधु था, कोई विचारक उससे मिलने गया। उस विचारक ने दो घंटे तक दर्शन की, धर्म की बड़ी गंभीर, बड़ी सूक्ष्म चर्चा की। जितने लोग सुनने वाले थे, सारे प्रभावित थे, उसके सूक्ष्म विचार, उसका सूक्ष्म विश्लेषण।... तुम तो कुछ बोलते ही नहीं। विद्वान हैरान हो गया, बोला, दो घंटे बोला। उसने पूछा, आप क्या कहते हैं? दो घंटे मैं निरंतर पर बोल रहा था। तो साधु ने कहाः उस बोलने में तुम्हारा अपना तो कुछ भी नहीं, उस बोलने में तुम तो जरा भी नहीं बोले, बाहर से आया हुआ यंत्र की तरह तुमसे दोहरा दिया गया है, जो तुमने शास्त्रों से, शब्दों से पाया है उसे प्रतिध्वनित कर दिया है, तुम्हारा उसमें कुछ भी नहीं है।
जो बाहर से आकर हम प्रतिध्वनित करते रहते हैं वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान वह है, जब बाहर का कुछ भी न हो मेरे पास और जाग जाए ज्ञान, स्वतः ही सूचना दे, स्वतः संवेदना दे, स्वतः संवेदना... ही केवल ज्ञान है। और जैन जीवन-साधना में तो अनिवार्यरूपेण जो आंतरिक है, जो अत्यंतिक रूप से आंतरिक है और बाहर से संबंधित नहीं है, उसी को ज्ञान स्वीकारा है, उसी को सम्यक ज्ञान स्वीकारा है, उसको ही दर्शन माना है। चिंतन को, विचार को, अध्ययन को, मनन को नहीं। समस्त चिंतनों, समस्त अध्ययन, समस्त मनन गैर-

2

आध्यात्मिक है, आत्मिक नहीं है, बाहर है। इसलिए कोई उपदेश दिया नहीं जा सकता। महावीर ने कोई उपदेश नहीं दिया है, उपदेश नहीं दिया जा सकता, केवल इशारे किए जा सकते हैं, केवल इशारे किए जा सकते हैं। और भ्रांति हो जाती है वहां जहां हम इशारों को पकड़ लेते हैं और उसको नहीं जिसकी तरफ इशारा किया गया है।
मैं अगर अपनी अंगुली से चांद को दिखाऊं और आप मेरी अंगुली को पकड़ लें, भ्रांति हो जाएगी। महावीर अपने पूरे जीवन को उस सत्य की तरफ इंगित कर रहे हैं। हम उस सत्य को तो नहीं देखते, महावीर को पकड़ लेते हैं। समस्त जाग्रत पुरुष एक इशारे हैं। अनंत शाश्वत सत्य के प्रति हम उस सत्य की तो हमारे आंख में झलक नहीं आती, हम उन पुरुषों को पकड़ लेते हैं। हम सत्य के ज्ञाता न होकर केवल सत-पुरुषों के उपासक रह जाते हैं।
जैन-दर्शन की मौलिक क्रांति यही थी उसने पूजा को कह दिया अज्ञान है, अर्चना को, आराधना को कह दिया अज्ञान है, किसी की शरण में जाने को कह दिया अज्ञान है। सत परम पद है किसी की शरण नहीं जाना है ज्ञान उपलब्ध करने को। किसी की पूजा नहीं करनी है। ज्ञान उपलब्ध है, अगर मैं शांत अपने भीतर देखने को राजी हो जाऊं, इसी क्षण ज्ञान के झरने फूट सकते हैं। बाहर से मुक्त... चैतन्य ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। मेरे देखे, कैसे हम उसे पा सकते हैं जो भीतर बैठा है, जिसे कभी खोया नहीं? और कैसा आश्चर्य मालूम होता है जिसे कभी खोया नहीं उसकी तलाश है। जिसे खो नहीं सकते उसकी खोज है। जो खोज रहा है वही गंतव्य है और बाहर भटक रहा है और खोता नहीं। हम पूरे जीवन किसकी तलाश कर रहे हैं? कौन सी जिज्ञासा, कौन सी खोज हमें पकड़े हुए है? हम कहां दौड़े चले जा रहे हैं? हजारों दिशाएं हों, हजारों लोग हों, लेकिन खोज एक है--खोज आनंद की है। जीवन की हर वादियों में, हर इच्छा में हम आनंद को खोज रहे हैं। हम दुख-निरोध को और आनंद को उपलब्ध करने के लिए दौड़ रहे हैं। एक ही दौड़ है समस्त प्राणियों की--आनंद की। लेकिन आज तक बाहर दौड़ कर आनंद को कोई उपलब्ध नहीं हुआ है। हम इस जमीन पर नये-नये नहीं हैं। हम इस जमीन पर नये आगंतुक नहीं हैं। हमसे पहले सदियां गुजरी हैं, करोंड़ों, अरबों लोग गुजरे हैं। आज तक पूरे मनुष्य के इतिहास में बाहर दौड़ कर किसी ने आंनद को नहीं पाया है। जो बाहर नहीं पाया जा सका, क्या इतना विवेक नहीं जागता कि हो सकता है वह बाहर हो ही नहीं। जो आज तक बाहर नहीं उपलब्ध हुआ है वह बाहर नहीं होगा। एक बार भीतर भी तलाश कर लेने की प्यास पैदा कर लें। एक बार भीतर भी झांकने की आकांक्षा पैदा कर लें, और शायद जन्मों-जन्मों जो बाहर खोजने से न मिले, एक क्षण में भीतर की अंतर्दृष्टि उसे उपलब्ध करा जाती है। आनंद हमारा स्वरूप है, ज्ञान हमारा स्वरूप है, शास्त्र से मुक्ति हमारा स्वरूप है।
एक साधु के संबंध में मैंने सुना। वह अपने गुरु के आश्रम पर था, आत्मा
की खोज में था, आंनद की खोज में था, ज्ञान की खोज में था। गुरु ने साधना के प्रयोग बताए थे। साधना कर रहा था। एक वर्ष बाद आने को कहा था। एक वर्ष बाद साधु अपने गुरु के पास गया। गुरु ने पूछाः मिल गया जिसकी तलाश थी? पा गए? वह बोलाः अभी तो नहीं। और गुरु ने एक जोर का चांटा उसके चेहरे पर मारा। उसने सोचा कि शायद मुझे अभी मिला नहीं इसलिए दंड मिला है। गुरु ने कहाः वापस फिर साल भर तलाश करो। वापस लौट गया। वर्ष बीता, आनंद से भरा हुआ प्रसन्न चित्त वापस लौटा। गुरु ने पूछाः मिल गया? उसने कहाः हां, मिल गया है। गुरु ने वापस एक चांटा मार दिया, कहा, लौट जाओ, वर्ष भर बाद आना, और वर्ष भर चेष्टा करो। अब कठिनाई थी, पहली बार कहा था नहीं मिला, चांटा संभवतः पता था, आज तो कहा थाः मिल गया, आज चांटे का कारण समझ में नहीं पड़ा।
वर्ष भर बाद जब वापस लौटा, शांत था, कोई भाव न थे, बिल्कुल शून्य था। गुरु ने पूछाः मिल गया? ... क्या हुआ? गुरु ने पूछाः मिल गया? उस साधु ने एक चांटा गुरु को मार दिया, गुरु नाचने लगा, बोला, ठीक, ठीक। वह युवक बोला, वह साधु बोलाः जिसे कभी खोया नहीं था उसे पाने की बात ही गलत थी। गुरु ने कहाः ठीक। मैं कितनी बार आकांक्षा किया कि तू मुझे मार दे एक दफा। तू जिस दिन भी

कह देगा पूछना फिजूल है, आपका प्रश्न मूर्खतापूर्ण है, यह प्रश्न कि पाया ही नहीं उसी दिन समझ लूंगा पाना हो गया।
हमने खोया नहीं है कुछ, केवल हमारी दृष्टि उस पर नहीं है जिसकी हम तलाश कर रहे हैं। गलत दिशा में देख रहे हैं। केवल दिशा की भूल है। कुछ खोना नहीं हुआ है, केवल दिशा की भूल है, केवल आंखें अन्यथा में, अन्य दिशा में देख रही हैं। जो आंख "पर" को देख रही है, उसी आंख को "स्व" पर परिवर्तित करना साधना है। धर्म ईश्वर से संबंधित नहीं है। धर्म जगत के रहस्य को खोजने से संबंधित नहीं है। धर्म सृष्टि के जन्म की प्रलय की कथा खोजने से संबंधित नहीं है। धर्म व्यक्ति के भीतर कौन छिपा बैठा है उस रहस्य को खोज लेने से संबंधित है। जो एक के भीतर बैठा है वही सबके भीतर बैठा है। एक की कुंजी को खोल लें, सबका रहस्य खुल जा सकता है। जो अपने को खोल कर जान लेगा, आविष्कृत कर लेगा, वह सारे जगत को खोल कर उसमें देख लेगा। व्यक्ति के भीतर कौन बैठा है? साथ लिए हैं वही हम हैं, आंख उस पर नहीं है, आंख कहीं बाहर अन्यथा दौड़ रही है। आंख का परिवर्तन, दृष्टि का परिवर्तन साधना है; दृष्टि का परिवर्तन योग है; दृष्टि का परिवर्तन धर्म है।
आज की सुबह, कैसे वह आंख परिवर्तित हो सकती आपके द्वारा, कैसे हम शब्द-बोध को उपलब्ध हो सकते हैं, उसी संबंध में थोड़े से इशारे करना चाहता हूं। और जो मैं कहूं, जो मैं कहना चाहता हूं, मेरा मन नहीं होता कि ऐसी कोई बात कहूं जो कि आपकी सूचना में थोड़ी वृद्धि करे, मैं नहीं चाहता ऐसी कोई बात कहूं जो थोड़ा आपकी ज्ञान उपलब्धि कर दे और समाप्त हो जाए। मैं सच में कोई बात आपको नहीं देना चाहता। थोड़ा सा आपके भीतर असंतोष पैदा करना चाहता हूं। थोड़ी सी अतृप्ति और प्यास, थोड़ी सी जलन, थोड़ी सी आकांक्षा, इस बात का बोध कि मैं कहां खड़ा हूं और क्या हो सकता हूं, मैं क्या हूं और क्या हो सकता हूं, अगर यह फासला दिख जाए कि मैं किन गहराइयों में पड़ा हूं और किन उज्जवल शिखरों पर हो सकता था। अगर यह प्यास का बोध जोर से पकड़ ले, अगर यह आकांक्षा पूरे तन-प्राण में कांप जाए, अगर यह रोएं-रोएं में प्यास भर जाए, वही प्यास व्यक्ति को सामान्य से असामान्य में परिणित कर देती है। वही प्यास व्यक्ति को शरीर से हटा कर आत्म-केंद्रित कर देगी। वही प्यास व्यक्ति को अधर्म से उठा कर धर्म तक ले जाती है।
प्यास की अग्नि को प्रदीप्त करना है। हमारे भीतर कोई धार्मिक प्यास मालूम नहीं होती, बुझी-बुझी सी है। अंगार राख में दबा पड़ा है। लेकिन ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है सारी जमीन पर जिसके भीतर अंगारा बिल्कुल बुझ गया हो। बिल्कुल अंगार नहीं बुझ सकता है। बिल्कुल अंगारा बुझने की संभावना नहीं है। इसलिए राख की परत कितनी भी घनी हो, झाड़ी जा सकती है--एक तीव्र असंतोष का झोखा, एक अतृप्ति का झोखा और राख झड़ सकती है और जगमगाता अंगार भीतर उपलब्ध किया जा सकता है।
मैं थोड़ा अंसतोष और प्यास बनाना चाहूंगा।
मैंने सुना है, हिमालय में और हिमालय की आस-पास की घांटियों में होता
है एक पक्षी। एक छोटी सी चिड़िया और एक बहुत दर्द भरी आवाज घाटियों में नदी के किनारों पर, झरनों पर उसकी आवाज गूंजती रहती है। उस आवाज के पास एक लोक-कथा पहाड़ों में प्रचलित हो गई है। वह चिड़िया गुंजाती रहती है, चिल्लाती रहती है सुबह-सांझ। रात्री के अंधेरे में उसकी आवाज बहुत दर्द भरी है। वह आवाज हैः जुहो! जुहो! जुहो! पहाड़ों पर, झरनों के किनारे यह आवाज गूंजती है। हिमालय के पास की पहाड़ियों में इस शब्द का जुहो का अर्थ होता हैः जाऊं? जाऊं? और इस शब्द के पास एक लोक-कथा कही गई है। वह कहानी आपसे कहूं।
कथा है, ऊपर पहाड़ की हरियालियों में और झरनों के करीब एक बहुत सुंदर युवती थी। पिता बहुत गरीब था। और गरीबी के कारण लड़की को मैदान में ब्याह देना पड़ा। मजबूरी थी। जो झरनों के संगीत पर पली हो और हरियाली में और हिमाच्छादित शिखरों के करीब, उसको उत्तप्त मैदानों में शादी कर देनी पड़ी। विवाह हुआ। वह युवती अपने ससुराल गई। किसी तरह वर्षा कटी, सर्दी कटी, फिर गर्मी का आगमन शुरू हुआ। सूरज ऐसे तपने लगा जैसे आग हो और उसकी पूरी चेतना आतुर होने लगी पहाड़ पर जाने के लिए। पहाड़, उसकी शीतल ठंडक में पहुंच जाने

के लिए आतुरता घनी हो गई। उसने अपने पति से कहा कि मैं पहाड़ पर जाना चाहती हूं। पति ने आज्ञा दे दी। उसने सुबह अपनी सास को कहा कि मैं पहाड़ जाना चाहती हूं। बहुत उतप्त है, मेरे प्राण आतुर हैं। सास ने कहाः कल चली जाना। पहाड़ी में एक शब्द है--भोज डाला। कल चले जाना।
एक दिन और बीता प्रतीक्षा में, आकांक्षा में। उसने सुबह फिर कहाः जुहो, जाऊं? सास ने कहाः भोज डाला। कल चली जाना। और एक दिन बीता और दिन पर दिन बीतने लगे, और रोज वह पूछतीः जुहो, जाऊं? सास कहतीः भोज डाला। कल चली जाना।... और आग बरसने लगी जमीन पर और जमीन चटकने लगी धूप से और चिड़ियां दरख्तों से लू खाकर गिरने लगीं। उसने अंतिम रूप से पूछाः जुहो? वही निश्चित उत्तर मिला--भोज डाला। उसी सांझ उसे गांव के लोगों ने बाहर एक चट्टान के पास मरा हुआ पाया। शरीर उसका काला पड़ गया था। प्रतीक्षा धूमिल हो गई थी। आत्मा मर गई थी। उसने खाना-पीना छोड़ दिया था। जब गांव के लोग बाहर वहां से लाश को उठाने गए, जिस सूखे दरख्त के नीचे लाश पड़ी थी, तो उस पर एक चिड़िया उड़ी और उसने कहाः जुहो, जाऊं? और बिना किसी के प्रतीक्षा उत्तर की किए चिड़िया पहाड़ों की ओर उड़ गई।
तब से वह कहानी वहां पहाड़ों के पास प्रचलित है। मैंने उसको सुना, पढ़ा, मुझे तो बहुत प्रीतिकर लगी। मुझे तो लगा यह तो प्रत्येक आदमी के भीतर की कहानी है। तो हर आदमी के भीतर कुछ है जो उन्मुक्त शिखरों पर उड़ जाना चाहता है। कुछ है जो प्रतिक्षण जानता है जहां मैं हूं वहां के लिए मैं नहीं हूं। कुछ है जो कहीं और शीतल विश्राम की और-और आनंद की ओर लौट जाना चाहता हूं। और जिसे जीवन का उत्ताप्त और पीड़ा और दुख सालते हैं और आतुरता को भरते हैं भीतर। रोज भीतर कोई पूछता है, जाऊं? रोज भीतर कोई उठना चाहता है शिखरों पर। लेकिन नीचे की गहराइयां और घाटियां और मजबूरियां और परिस्थितियां हुक्म देती हैं और कह देती हैंः भोज डाला। कल चले जाना।
मैं आज आपसे यह कहना चाहता हूं, इस "जाऊं" को विकसित करना है और "कल चला जाऊंगा" इस नासमझी में स्थिगित नहीं करना है। उन ऊंचाइयों पर उठने की प्यास को जगाना है तीव्रता से और कल के लिए स्थगित नहीं करना है, कल निश्चित नहीं है, कल कभी आता नहीं है। जो व्यक्ति कल पर छोड़ेगा उसने हमेशा के लिए छोड़ दिया। धार्मिक जीवन उत्तप्त आकांक्षा और प्यास का जीवन है। धार्मिक जीवन मंदिर जाने से और पूजा करने से संबंधित नहीं है, धार्मिक जीवन औपचारिक क्रियाकांड कर लेने से संबंधित नहीं है। धार्मिक जीवन बहुत जीवंत उत्तप्त आकांक्षाओं से संबंधित है। चौबीस घंटे जलती हुई एक आकांक्षा, हर घड़ी, हर काम में दैनंदिन। क्षुद्रतम बातों में भी जीवन चाहे घाटियों में गूंजे, लेकिन आंखें हिमाच्छादित शिखरों पर लगी हों। जीवन चाहे क्षुद्रतम में खड़ा हो, जीवन चाहे व्यर्थता में खड़ा हो, लेकिन आंखें सूरज को देखती हों, इतना हो जाए, इतना हो जाए, सीमा में खड़े हुए असीम पर आंख टिकी रहे, शेष सब अपने से हो जाएगा। शेष सब अपने से हो जाएगा। दृष्टि सूरज पर हो, दृष्टि असीम पर हो, दृष्टि प्रकाश पर हो, फिर तो कोई चुंबक की तरह खींचेगा आकर्षण और शनैः-शनैः एक छोटी सी किरण भी धीरे-धीरे परिपूर्ण प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है। प्यास की एक छोटी सी किरण तृप्ति के सागर में परिवर्तित हो जाती है। मैं अगर कुछ भी कर सकूं थोड़ा सा भी हलन-चलन भीतर, थोड़ा सा कंपन, उतना पर्याप्त है। कोई शिक्षा जरूरी नहीं है, प्यास जरूरी है। कोई धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन जानना जरूरी नहीं है। प्यास जरूरी है। प्यास है, सब कुछ है। प्यास नहीं है--ग्रंथालयों के बीच बैठे रहें, मंदिरों के बीच बैठे रहें, भगवान की मूर्तियों से घिरे हुए बैठे रहें, सब व्यर्थ है। प्यास सार्थक करती है।
आज के युग में मंदिर कम नहीं हैं, मूर्तियां कम नही हैं, सिद्धांत कम नहीं हैं, धार्मिक ग्रंथ कम नहीं हैं, लेकिन प्यास विलीन हो गई है, प्यास क्षीण हो गई है। प्यास इतनी मद्धम हो गई है... अगर आप उनसे पूछेंगे शांति में बैठ करः सच मोक्ष चाहता हूं? सच जाना चाहता हूं पहाड़ों पर? भीतर कोई आवाज उठती हुई मालूम न हो, भीतर कोई कंपन होता हुआ मालूम न हो, भीतर कोई शोर उठता हुआ मालूम नहीं होगा, भीतर एक सन्नाटा, एक मुर्दगी, एक अवसाद छाया हुआ

दिखेगा। ऐसे इस अवसाद में एक तृप्ति की भ्रांति की धारणाओं में इस असंतुष्ट होने की कमी में कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता, धार्मिक के लिए असंतोष चाहिए। साधारणतया धार्मिक उपदेशक कहते हैं संतुष्ट हो जाओ, जो है संतुष्ट हो जाओ। मैं कहता हूं कि बात उनकी गलत है; जो भी हो अतृप्त, असंतुष्ट होना होगा... । जो भी है किसी से भी जो तृप्त हो जाएगा वह नीचे रह जाएगा। तृप्ति मृत्यु है। संतुष्ट हो जाना मर जाना है।... क्षुद्र से हम घिरे हैं, व्यर्थ से हम घिरे हैं, सीमित से हम घिरे हैं, उससे जो संतुष्ट हो गया तो आत्मघात कर लिया, सुसाइड। आत्महत्या मैं नहीं कहता, मैं कहता हूं, असंतुष्ट होने को देखें, चारों तरफ जो हमारे चारों तरफ घिरा है वह संतुष्ट होने जैसा है? फिर हमारा मन उससे संतुष्ट नहीं होता तो हम मन को दोष देते हैं कि मन बड़ा चंचल है, किसी चीज से संतुष्ट नहीं होता।
मैं आपसे कहूं, सौभाग्य है आपका कि मन चंचल है। फिर से दोहराता हूंः सौभाग्य है आपका कि मन चंचल है। अगर मन चंचल न हो तो हम कूड़े-कचरे में बिठा कर नष्ट कर देंगे पता नहीं। अगर मन चंचल न हो, थिर हो जाए, उसे हम, उसे कहां बैठा देते। एक दफा विचार करना, हमने उसे कहां बैठा दिया होता। मन कहीं भी तृप्त नहीं होगा पूरे जीवन दौड़ो, पूरे जीवन दौड़ो, एक-एक वासना के द्वार खटखटाओ, एक-एक इच्छा को तृप्त करने की चेष्टा करो। मन कहीं नहीं ठहरता इसके पहले कि तुम ठहरो, यह भाग जाता है। कुछ लोग हैं जो इस बात को गाली देते हैं कि मन बड़ा चंचल है। और मैं कहता हूं, यह सौभाग्य है जिनका मन चंचल है। और मन की चंचलता इसलिए है कि मन बिना परम को पाए रुकेगा नहीं। मन बिना प्रभु को पाए रुकेगा नहीं, इसलिए चंचल है। मन इसलिए भागा हुआ है कि क्षुद्र से तृप्त नहीं हो सकता, दिव्य चाहिए, उसको पाने से पूर्व उसकी चंचलता नहीं मिटेगी। मन की चचंलता छोड़ कर भगवान को नहीं पाना होता; भगवान को पाकर ही मन की चंचलता विलीन हो जाती है। उस परम पद को पा सकें हम, इसलिए मन चंचल है निरंतर।
मिश्र में एक साधु हुआ था, फकीर था। मिश्र का जो बादशाह था उससे मिलने आया। फकीर की प्रशंसा सुनी थी, मिलने गया। गरीब था फकीर। उसका एक साधु बाहर खेत में काम कर रहा था, बादशाह ने पूछा कि फकीर कहां है? उसने कहाः आप बैठें दो क्षण, मैं उसे बुला लाता हूं। लेकिन बादशाह बैठा नहीं, वह खेत की मेढ़ पर ठहलने लगा। फकीर भीतर गया, बादशाह से कहाः भीतर आ जाएं। उसने सोचा, शायद खेत में कहां बैठें इसलिए टहलते होंगे। बादशाह भीतर गया। गंदा सा झोपड़ा था, गरीब का झोपड़ा था। उस फकीर ने कहाः बैठ जाएं, मैं पीछे से खेत से बुला लाऊं जिनसे आप मिलने आए हैं। बादशाह बरामदे में टहलने लगा। वह बड़ा हैरान हुआ कि यह आदमी बैठता क्यों नहीं है? भीतर से जाकर फकीर का बुला कर लाया और फकीर से उसने रास्ते में कहाः अजीब आदमी मालूम होता है यह बादशाह, मैंने दो-चार बार कहा कि बैठ जाएं, लेकिन वह टहलता है, बैठता नहीं। वह फकीर हसंने लगा, वह बोला, उस बादशाह को बिठाने योग्य हमारे पास सिंहासन कहां है उस बादशाह को बिठा सकें, इस योग्य हमारे पास जगह कहां है, इसलिए टहलता है। मैंने जब इसे पढ़ा, जैसे उदघाटन हो जाए द्वार खुल जाएं, मेरे सामने एक द्वार खुल गया। मनुष्य का यह जो मन है यह परम पद के पहले कहीं नहीं बैठेगा, इसके बैठने के लिए और कोई स्थान नहीं है। और यह नहीं बैठता इसकी कृपा, अनुग्रह है।
मन की चंचलता ही व्यक्ति को संसार से मोक्ष तक ले जाने का कारण बनती है। मन की चंचलता ही व्यक्ति को संसार से तृप्त नहीं होने देती। मन सहयोगी है, विरोधी नहीं। मन साथी है, शत्रु नहीं। मन ही ले जाता है--मन ही संसार में लाया--मन ही संसार के पार ले जाता है। मन ही यहां लाता है, मन ही वापस ले जाता है। जो रास्ता यहां तक लाता है वही रास्ता तो पीछे वापस ले जाएगा। लेकिन स्मरणीय यह नहीं है कि मन बुरा है, स्मरणीय यह है कि मन कि दिशा क्या है? मन ही प्रभु तक ले जाएगा, मन ही संसार तक, मन की दिशा क्या है? मन अगर संसार की तरफ मुड़ा हुआ हैः हम संसार में गति करेंगे। मन अगर प्रभु की तरफ मुड़ा हैः हम प्रभु में गति करेंगे। मन गतिमयता का सिद्धांत है। मन के असंतोष को संसार की तरफ से हटा लें, मन के अंसतोष को प्रभु की तरफ लगने दें,

मन की अतृप्ति को प्रभु की तरफ दौड़ने दें। रास्ते पर पीछे लौटना है। और मैंने महसूस किया कि महावीर की जीवन-दृष्टि बहुत सरलता से व्यक्ति को पीछे लौटा सकती है। पर हम उसे भ्रांत और गलत समझे हैं। हमने महावीर की पूरी जीवन-दृष्टि को गलत समझा है। हमने समझ लिया कि महावीर एक विरागी हैं, हमने समझ लिया कि वह एक त्यागी संन्यासी थे, और हमने महावीर के साथ गलती कर दी। विराग भी संसार में है, राग भी संसार में है--दोनों संसारी हैं। गृहस्थ भी संसारी है, संन्यस्त भी संसारी है--दोनों संसार के भीतर हैं। एक संसार के पीछे दौड़ रहा है संसार को पकड़ने को, एक संसार से दौड़ रहा है संसार को छोड़ने को, लेकिन दोनों का केंद्र संसार है, दोनों की पकड़ संसार पर है। महावीर का दर्शन न राग का दर्शन है, न विराग का; वह वीतरागता का दर्शन है। जो राग के और विराग के ऊपर उठ जाए, राग छूटे और विराग पकड़ ले व्यर्थ हो गया छूटना। एक छूटा, दूसरा पकड़ गया। महावीर छोड़ने पकड़ने को उत्सुक नहीं हैं। महावीर इस सत्य का दर्शन कराना चाहते हैं कि तुम तुम्हारी सत्ता छोड़ने-पकड़ने के बाहर है।
महावीर को विरागी न समझें, महावीर की साधना को विराग की साधना न समझें। जैन साधना विराग की नहीं, ज्ञान की साधना है। जैन साधना त्याग की नहीं, ज्ञान की साधना है। त्याग ज्ञान से अपने आप फलित होता है।
जो राग को सीधा छोड़ कर विराग की तरफ चलेगा, विराग उसे जकड़ लेगा। जो राग
के प्रति ज्ञानयुक्त होकर होश से भरेगा, जो राग की परिपूर्ण सत्ता के प्रति जागरूक होगा, विराग नहीं पकड़ेगा, राग-विराग दोनों वसर्जित हो जाएंगे।
एक नदी के किनारे दो साधु पार हो रहे थे। सांझ थी। वृद्ध साधु आगे था, युवा साधु पीछे था। एक युवती भी नदी पार करना चाहती थी। वृद्ध साधु ने सोचा, हाथ का सहारा दे दूं, नदी पार करा दूं। तूफानी थी नदी, पहाड़ी था नाला, तेज थी धार, सोचा हाथ का सहारा दे दूं, पार करा दूं। लेकिन हाथ का सहारा दे दूं, इस विचार के आते ही भीतर वासना सजग हो गई। वृद्ध था, अनेक दिन से राग को छोड़ कर विराग की तरफ जा रहा था। लेकिन यह ख्याल मात्र कि स्त्री का स्पर्श करूं, भीतर सारे रोएं-रोएं में वासना व्याप्त हो गई, अपने को झिड़का, सोचा कि मैंने कहां कि गलत बात सोच ली, स्त्री का तो विचार करना भी पाप है। आंख बंद कर लूं, आंख नीची करके नदी पार होने लगा। लेकिन आंख बंद करने से कोई स्त्री को बाहर नहीं निकाल सकता है। बल्कि आंख बंद करने का तो अर्थ ही इतना है स्त्री भीतर बहुत सबल है।
आखं बंद कर ली, स्त्री बाहर छूट गई होगी, लेकिन भीतर उससे भी और कामिनी स्त्री खड़ी हो गई। भीतर चित्र दौड़ने लगा, भीतर राग स्वप्न देखने लगा। झिड़कने लगा अपने को, दबाने लगा अपने को, लेकिन भीतर स्त्री प्रबल होकर थी। भीतर राग का पूरा स्वप्न खड़ा हो गया था। वह नदी पार हुआ, अपने को धिक्कारा, गलत बात सोची इसके लिए। पीछे लौट कर देखा, हैरान हो गया, आग लग गई, वह युवक साधु लड़की को कंधे पर लिए नदी पार कर रहा था। सोचा मैं हूं विरक्त वृद्ध, सोचने मात्र से वासना जग गई और यह नासमझ युवा कंधे पर युवती को लिए नदी पार कर रहा है। इतना क्रोध उसे आया, हाथ-पैर कंपने लगे। दोनों राह पार किए। इतना क्रोधांवित था, रास्ते में बोल नहीं सका। एक मील फासला पार करके वे आश्रम में प्रवेश करते थे, सीढ़ियां पार कर रहा था, उसने युवक से कहाः जाकर गुरु को कहूंगा, आज तुमने जघन्य अपराध किया है। युवक ने पूछाः क्या हुआ? साधु ने कहाः उस लड़की को कंधे पर लेना पाप था। वह युवक बोलाः मैं उस लड़की को नदी के किनारे कंधे से उतार आया, आप उसे अभी कंधे पर लिए हुए हैं? मैं उस युवती को नदी के किनारे कंधे से उतार दिया हूं, आप उसे अभी कंधे पर लिए हुए हैं?
सच ही संसार को छोड़ना-पकड़ना नहीं है। कंधे से उतार देना है। छोड़ना- पकड़ना दोनों एक ही बात की प्रतिक्रिया है। एक ही छोर के दो हिस्से हैं।... गलत वैरागी शीर्षासन करता हुआ वह संन्यासी है, वह गलत दृष्टि को पकड़े हुए संन्यासी है। वह वास्तविक संन्यासी नहीं है। जैन दृष्टि वास्तविक संन्यास को ज्ञानजन्य मानती है। राग के विपरीत विराग नहीं पैदा करना है,

ज्ञान के प्रकाश में राग को विसर्जित कर देना है। विराग भी विसर्जित हो जाएगा। ये दोनों बातें बहुत भिन्न हैं। राग से डर कर विराग की तरफ भागना अज्ञान है। जो मुझे बांधे भी नहीं है उसे छोड़ कर भागना पागलपन है। जो है ही नहीं उससे भागूंगा कैसे?
महावीर कहते हैं, सत्य को जान लो कि पदार्थ पर अपने स्वरूप में चल रहा है, तुम अपने स्वरूप में, तुम उससे संबंधित ही नहीं हो। राग भी संबंध है, विराग भी संबंध है, तुम उससे असंबंधित, इस सत्य का उदघाटन संन्यास होगा। इस सत्य का उदघाटन जो करे वह महावीर के अनुगमन में है, वह उनके पीछे चल रहा है।
मैं आपको कहूं, आत्म-ज्ञान की साधना विराग की साधना नहीं है, आत्मज्ञान की साधना त्याग की साधना नहीं है। त्याग तो अपने से फलित होगा, अपने से घटित होगा। जैसे ही ज्ञान का जन्म होगा आचरण में त्याग अपने आप चला आता है। जगत में प्रभु को पाने की दो निष्ठाएं हैं--एक निष्ठा है कर्म की, एक निष्ठा है ज्ञान की। जैन निष्ठा ज्ञान की निष्ठा है। जैन निष्ठा ज्ञान के माध्यम से प्रभु को पाने की आस्था है, कर्म के माध्यम से नहीं। जैन विश्लेषण अदभुत है। वह कहता है, प्रत्येक कर्म बांध देता है, प्रत्येक कर्म का परिणाम बांध लेगा। अशुभ कर्म बांधते हैं, शुभ कर्म बांध लेते हैं। और जब तक बंधन है--चाहे लोहे का हो और चाहे स्वर्ण का, चाहे पाप का हो और चाहे पुण्य का, चाहे राग का हो और चाहे विराग का हो--बंधन-बंधन है, और आत्मज्ञान उपलब्ध नहीं हुआ है।
जैन साधना कर्म की नहीं अकर्म की या ज्ञान की साधना है। केवल ज्ञान मुक्त करता है कर्म नहीं। इस सत्य को जानना है कि मुझे कर्म छूते ही नहीं हैं और समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है, क्योंकि वस्तुतः उन्होंने कभी बांधा नहीं था, मैं केवल भ्रम में था कि बंधा हुआ हूं। भ्रम का विसर्जन होना है, कर्मों का कोई विसर्जन नहीं होना, वे बांध ही नहीं सकते। नित्य, बुद्ध नित्य मुक्त चैतन्य भीतर बैठा है। इसकी घोषणा जिन्होंने की है, जाग्रत पुरुष ने की है। जाग्रत पुरुषों की घोषणा है--भीतर मुक्त बैठा है। तुम भ्रांति से उसे अमुक्त और बंधन में मान रहे हो, इसलिए मोक्ष का प्रयास भी अज्ञान है, मुक्त होने का प्रयास भी अज्ञान है, क्योंकि जो बंधा ही नहीं उसे मुक्त करने को क्या करोगे। केवल सत्य को जानना है, सत्य के प्रति जाग्रत होना है, इससे अपने से हो जाएगा। यह ज्ञान की निष्ठा है, ज्ञान ही क्रांति है, ज्ञान ही ट्रांसफार्मेशन। अज्ञान संसार है, ज्ञान मोक्ष है। इस ज्ञान को उपलब्ध होना। और मैंने कहाः यह ज्ञान प्रत्येक के भीतर है। आंख बाहर है, ज्ञान भीतर है। दोनों को संयुक्त कर लेना परिवर्तन हो जाता है। मैं निरंतर बाहर देख रहा हूं, मैं निरंतर बाहर देख रहा हूं। हर क्रिया बाहर हो रही है, हर ज्ञान का उपयोग बाहर हो रहा है, हर चिंतन बाहर हो रहा है। चौबीस घंटे मैं बाहर हूं, भीतर नहीं।
लगभग हम एक सिनेमा-घर में बैठे हैं जहां आंख के सामने फिल्में गुजर रही हैं, और इतने तल्लीन हो गए हैं उस सिनेमा को देखने में कि भूल गए हैं कि मेरी भी कोई सत्ता है। देखने वाला दृश्य में अपने को खो दिया है, देखने वाला दृश्य में विलीन हो गया है, तल्लीन हो गया है। केवल तल्लीनता तोड़ देनी है और द्रष्टा दिख जाएगा। केवल तल्लीनता तोड़ देनी है और द्रष्टा दिख जाएगा। दुनिया के कुछ विचारक हुए हैं जो कहते हैं और तल्लीन हो जाएं, तल्लीन से भगवान मिलेगा।
जैनों की ऐसी आस्था नहीं है। जैन कहते हैं, तल्लीन हुआ जाता है "पर" में। सब तल्लीनता "पर" से संबंधित है--चाहे संसार की हो, चाहे भगवान की मूर्ति में तल्लीनता कर रहे हों।
जैन साधना तल्लीनता की नहीं जागरूकता की साधना है। तल्लीन नहीं होना है; तल्लीन होना तो मूर्च्छा है। तल्लीनता का उपयोग भुला देना है, खो देना है, बेखुदी है, रजा है।
तल्लीनता नहीं; जागरण, जागना है। सारी तल्लीनता छोड़ देनी है और होश से
भर जाना है। होश में भरते ही द्वार खुल जाए। अगर ठीक से कहूंः तल्लीनता

संसार है। कहीं न कहीं तल्लीन हैं--राग में तल्लीन हैं, वासनाओं में तल्लीन हैं, कुछ हैं जो भगवान में तल्लीन हैं, कुछ हैं जो नाच कर, गीत गाकर भगवान में अपने को भुला रहे हैं।
भगवान में अपने को भुलाना नहीं है। किसी भी सत्ता में अपने को भुलाना अज्ञान है। समस्त के बीच अपने को जगाना है। तो संगीत और नृत्य और पूजा और अर्चना और प्रार्थनाएं और गीत कहीं नहीं ले जाएंगे। वे केवल पलायन हैं, एस्केप हैं। अगर ठीक से कहूं, वे सब इनटाक्सीकेशंस हैं। वे सब नशे हैं। वे सब मादक द्रव्य हैं, जिनसे हम अपने को भुला लेते हैं। दुख थोड़ी देर को भूल जाता है, समझते हैं बड़ा अच्छा हुआ। थोड़ी देर प्रार्थना की, मंदिर में थोड़ी देर आरती उतारी, थोड़ा नाचे-कूदे, थोड़ा अपना विस्मरण हो गया, दुख भूल गए, चिंताएं भूल गईं, यह नशा है, ज्ञान नहीं।
जैन साधना में तल्लीनता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है रंचमात्र। समस्त तल्लीनता तोड़ देनी है। तल्लीनता से ही हम बाहर के दृश्यों से बंधे हैं। कभी तल्लीन हो जाते हैं, रागों में कभी तल्लीन हो जाते हैं, प्रभु की कल्पना में।
महावीर का शिष्य था, गौतम। अंत तक महावीर की मृत्यु तक महावीर के निर्वाण तक वह मुक्त नहीं हुआ। और बाद में आए हुए मुक्त हो गए थे, गौतम मुक्त नहीं था। महावीर ने अनेक बार कहा, तू मेरे प्रति अपना मोह छोड़, मेरे प्रति तेरा मोह तुझे बाधा बन रहा है। महावीर के प्रति गौतम की तल्लीनता उसकी मुक्ति में बाधा हो रही थी। महावीर के प्रति तल्लीनता, महावीर के प्रति घनी श्रद्धा बाधा हो रही थी। महावीर के प्रति अनन्य समर्पण बाधा हो रहा था। महावीर की शरण में होने का अत्यंत आसक्ति बाधा हो रही थी।
आखिर महावीर का तो निर्वाण भी हो गया। गौतम अमुक्त था, अमुक्त ही था।
एक गांव में भिक्षा मांगने गया था। राह में खबर मिली कि महावीर का परिनिर्वाण हो गया। रोने लगा। राहगीरों से कहाः मेरा क्या होगा? मैं तो अमुक्त ही हूं। इतने दिनों से मेहनत करके भी पा नहीं सका अभी। राहगीरों ने कहा कि तुम्हारे संबंध में निर्वाण के पूर्व उन्होंने दो शब्द कहलवाए हैं। और वे शब्द हृदय में लिख लेने जैसे हैं। उन दो शब्दों में महावीर का पूरा सार... जैसे कि अंधकारपूर्ण जगत में दिन निकल आता है, बहुत क्रांतिकारी हो जाता है। महावीर ने कहलवायाः कह देना गौतम से, तू सारी नदी तो पार कर गया, अब किनारे को पकड़ कर क्यों रुक गया, उसको भी छोड़ दे। तू सारा संसार का मोह छोड़ चुका, अब महावीर के प्रति क्यों मोह पकड़े हुए है, उसको भी छोड़ दे। वह तल्लीनता भी विसर्जित हो जाए, तो आत्म-जागरण हो जाता है। तल्लीन होकर खो गए हैं। तल्लीनता छिन्न-भिन्न कर देनी है, तोड़ देनी है। तल्लीनता के कारण दृश्य सब कुछ हो गया, द्रष्टा विस्मृत हो गया है। चौबीस घंटे दृश्य में खोए हुए हैं, देख रहे हैं, एक दृश्य हटता है दूसरा आ जाता है, दूसरा हटता है तीसरा आ जाता है। इतने तल्लीन हैं कि याद ही नहीं पड़ता कि हमारा भी कोई होना है, हमारा भी कोई बीइंग है, जो हम देख रहे हैं उसके अतिरिक्त मैं भी कोई देखने वाला हूं।
कैसे यह तल्लीनता टूटे? आत्म-जागरण, आत्म-द्रष्टा कैसे बनें?
एक-एक इंच साधना करनी होगी। एक-एक इंच जागना होगा। एक-एक इंच विवेक पैदा करना होगा। एक-एक दृश्य जब भीतर उठे, तो इस विज्ञान को समझना होगा, विवेक को पैदा करना होगा। यह जो मैं देख रहा हूं, यह मैं नहीं हूं, मैं केवल द्रष्टा हूं। जो भी दिखाई पड़ रहा है, वह मैं नहीं हूं; जो देख रहा है, वह मैं हूं। प्रत्येक विचार के... दृश्य के साथ जो प्रवाह है उसमें... बोध को जगाना होगा, इसको महावीर ने विवेक कहा है, इसको महावीर ने कहा है साधना, इसको महावीर ने कहा है... के उपयोग का स्मरण।
धीरे-धीरे इस होश को पैदा करते हुए एक-एक चीज जो "पर" है दिखाई पड़ने लगेगी। अलग समस्त क्रियाओं के बीच वह जो क्रिया-शून्य है, उसका अनुभव होना शुरू होगा। समस्त क्रियाओं और गति के बीच जिसमें कोई गति नहीं होती उसका स्मरण आना शुरू हुआ, भीतर कुछ जागने लगेगा, कोई नई ज्योति जगने लगेगी।

जैसे-जैसे यह जागरण स्पष्ट होगा कि जो दिखाई पड़ता है वह मैं नहीं हूं मैं केवल दर्शक हूं, द्रष्टा हूं। जीवन की क्रियाओं में जैसे-जैसे यह जागरण शुरू होता चला जाएगा विचार, दृश्य गिरते चले जाएंगे। जिस दिन परिपूर्ण रूप से जिस क्षण यह होश पूरा हो जाएगा, मैं देखने वाला हूं, केवल द्रष्टा, केवल दर्शक, केवल शुद्ध दर्शन मेरा स्वभाव है, उसी क्षण सारे चित्र... गिर जाएंगे। पर्दा खाली हो जाएगा। शून्य केवल शून्यता रह जाएगा। शून्य ही संक्रमण है।
विचार के माध्यम से जगत से जुड़े हैं, शून्य के माध्यम से स्वयं से जुड़ना हो जाता है। जैसे ही शून्य हुआ केवल सत्ता सिमट कर रह जाएगी। केवल होना, केवल अहं-ब्रह्मास्मि, मैं हूं, केवल मेरा बोध, केवल भीतर एक नया संगीत, बोध का एक नया स्मरण, एक नया ज्ञान स्पंदित होगा। इसको सम्यक दर्शन कहा है। "पर" को देखना असम्यक दर्शन है। "पर" को देखना मिथ्या दर्शन है। स्वयं को देखना सम्यक दर्शन है। सम्यक दर्शन क्रांति है। सम्यक दर्शन हुआ... क्या है... उसी क्षण ज्ञान हो जाएगा सत्ता का। उसी क्षण आचरण में परिवर्तन हो जाएगा।
सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक आचार, ये युगपत घटित हो जाते हैं। दर्शन की घटना घट जाए, ज्ञान आचरण युगपत घटित हो जाते हैं। भीतर दर्शन होगा, बोध ज्ञान का होगा, आचरण परिवर्तित हो जाएगा। दर्शन के विपरीत आचरण असंभव है। इसलिए आचरण को बदलना नहीं है। आचरण को बदलने वाला साधक धार्मिक साधक नहीं है। आचरण बदल जाता है। जड़ को बदल देना है, फूल परिवर्तित हो जाते हैं। जड़ को भूल जाएं, फूलों को पकड़ रहें, धीरे-धीरे बगिया अपने से कुम्हला जाती है।
जैन-दर्शन की जो मौलिक प्राणवत्ता थी वह खो गई, इसलिए हमने गलत छोर से पकड़ा, हमने सम्यक आचार से पकड़ा। पकड़ना सम्यक दर्शन से है। सम्यक दर्शन प्राथमिक है, मौलिक है। हमने पकड़ा सम्यक आचार से--व्यवहार शुद्धि, आचरण शुद्धि, इससे हम चलना शुरू करते हैं। हम गाड़ी के पीछे बैल बांध रहे हैं। आचरण इसलिए असम्यक है कि दर्शन असम्यक है। भीतर दर्शन गलत है इसलिए आचरण गलत है। आचरण की भूल, आचरण का गलत होना दर्शन के कारण है। कारण को बदलना होगा तो आचरण बदलेगा। आचरण को बदलने से कारण नहीं बदलता। मूल को बदलना होगा तो फूल बदलेंगे। फूल को बदलने से मूल नहीं बदलता। इस बात को वापस विचार कर लें। इस बात वापस दोहराना है। और अगर हम यह दोहरा सकें और स्मरण कर सकें और अगर महावीर को उनकी साधना को जिनों की साधना को इस क्रांतिकारी कोण से देख सकें, जगत में वापस वह अमूल्य साधना की निष्ठा लौटाई जा सकती है।
जो आचरण से चलेगा वह क्षुद्र बातें करने लगेगा--खाने की, पीने की, कपड़े की, इसकी-उसकी। उसकी बातचीत सुन कर ऐसी हैरानी होगी कि ये क्षुद्र बातें उस परम तक ले जाने का कारण बनेंगी? ये क्षुद्र चिंतन उस परम तक ले जाएगा? तब तो बहुत सस्ता सौदा है। तब तो सौदा बहुत ही सस्ता है। यह खाया तो मोक्ष चला जाऊंगा, यह खाया तो संसार में चला जाऊंगा। ऐसा पहन लिया तो मोक्ष चला जाऊंगा, ऐसा पहन लिया तो संसार में चला जाऊंगा। दो कौड़ी की हैं ये बातें, इनका कोई मूल्य नहीं है। इनमें जीवन को भुला देना, बिता देना गलती है। दर्शन है क्रांति का प्रतीक, ज्ञान है क्रांति का प्रतीक, वह घटित हो जाए उसके प्रकाश में जो उचित है अपने आप आचरण वैसा होगा सहज। आचरण कल्टीवेट नहीं करना होता, आचरण अर्जित नहीं करना होता, सहज विकसित होता है। दर्शन घटाना होता है। महावीर की पद्धति दर्शन से आचार तक की है, आचार से दर्शन तक की नहीं।
आत्म-दर्शन केंद्रीय परिवर्तन है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्य, सब अपने आप फूल की तरह खिल जाते हैं।...
माओत्से को यह पता था, इसलिए भी पता था एक... बड़ी बगिया थी उसके घर में। मां उसको सम्हालती थी। मां बीमार हो गई। उस युवक ने कहा कि मैं सम्हाल लूंगा, फिकर मत करो। एक-एक दिन बीतने लगा, बगिया कुम्हलाने लगी, बगिया मुर्झाने लगी, बगिया मरने लगी, पौधों के प्राण कंपकंपाने लगे। युवक सुबह

से शाम तक मेहनत करता था। एक-एक फूल को पानी देता था, एक-एक पत्ते को नहलाता था। पंद्रह दिन पूरे और बगिया तो वीरान हो गई। मां स्वस्थ हुई, उसने आकर बाहर देखा, बगिया तो मर गई थी। अपने पुत्र को पूछाः क्या हुआ यह? तुम तो सुबह से शाम तक बगिया में थे! युवक बोलाः मैं बहुत परेशान हूं, इतना श्रम किया जिसका हिसाब नहीं। ऐसा फूल नहीं छोड़ा जिसको पानी न दिया हो, ऐसा पत्ता नहीं छोड़ा जिसको पानी न दिया हो। मां ने जाकर देखा कि लेकिन जड़ें सूखी पड़ी थीं। फूल-पत्ते नहाए हुए थे, लेकिन जड़ों में पानी नहीं डाला गया था। मां ने कहाः फूलों के प्राण जड़ों में होते हैं। जड़ें सम्हालनी होती हैं, फूल अपने से सम्हल जाते हैं। जो, फूल को सम्हाले, नादान है। हमने फूल सम्हालने की कोशिश की है।
अहिंसा की चर्चा की है, अपरिग्रह की चर्चा की है, ब्रह्मचर्य की चर्चा
की है, अचौर्य की चर्चा की है, और सारी चर्चाएं कीं। आत्म-ज्ञान आत्म-दर्शन ही है। जो कौम, जो जाति, जो धर्म, जो दर्शन का प्राण थी उसको भूल जाएगी, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। वह नहीं चल सकती, उसके चलने के रास्ते टूट गए। वह बगिया कुम्हला जाएगी, वह मर जाएगी। वापस मूल को स्मरण करना है। और प्रत्येक व्यक्ति इसमें योगदान कर सकता है। अपने भीतर उसको जगा कर अपने भीतर उसको देख कर आनंद का पुंज बन सकता है। उसकी गंध, उसके जीवन का आनंद उसका प्रकाश और उन्हें जगाएगा प्यास को। और हममें कंपकंपी पैदा करेगा। और उनके प्राण कंपित होंगे और उनमें परिवर्तन हो सकता है।
मैंने ये थोड़ी बातें आपसे कहीं। कहने को जैसे कुछ भी नहीं कहा लेकिन अगर कहीं भी थोड़ा भीतर कुछ हिलता हुआ लगा हो तो मेरा कर्म सार्थक हो जाता है।
मैं बहुत आनंदित हूं। और जब किन्ही, किन्ही क्षणों में आपकी आंख में थोड़ी सी झलक और रोशनी देखता हूं तो मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहता है। लगता है कि रात जा सकती है, लगता है कि प्यास है और जग सकती, लगता है कि आग प्रज्वलित हो सकती है और क्रांति हो सकती है। ईश्वर करे सबको प्यास दे, ईश्वर करे सबको जगाए परम को पाने के लिए, ईश्वर करे सब जलती हुई लपटें बन जाएं, ताकि उसे पाया जा सके जो पाने जैसा है।

अंत में सबको मेरा धन्यवाद, सबको मेरा प्रेम और प्रणाम। अपने भीतर बैठे परमात्मा को मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

पथ की खोज
दूसरा प्रवचन

आत्म-दर्शन

आशा अंत में निराशा में परिणित हो जाती है, आनंद आत्मा में किसी भी तरह उपलब्ध होने को नहीं है, आनंद कोई प्राप्ति नहीं हो सकती, कोई उपलब्धि नहीं हो सकती, आनंद एक आविष्कार है जो इसी क्षण, अभी और यहीं हो सके तो हो सकता है, कल पर उसे नहीं छोड़ा जा सकता है। और उसे स्थगित नहीं किया जा सकता है। सामान्यतया हम सोचते हैं आनंद कभी मिलेगा, और उसके लिए प्रयासरत होते हैं, जैसे हमारे भीतर कहीं यह धारणा बैठी है कि आनंद को कहीं हमें उपलब्ध करना है, कहीं जाकर पाना है। महावीर की, बुद्ध की, क्राइस्ट की या कनफ्यूशियस की, उन सबकी जीवन दृष्टि हमारे इस विचार के विरोध में है। उनका जानना ऐसा जानना है कि आनंद अभी और यहीं अविष्कृत हो सकता है। हम उसे अपने भीतर लिए हैं, वह हमारे साथ है, केवल उघाड़ने के विज्ञान को जानने की बात है। केवल उघाड़ने के विज्ञान को जानने की बात है। अपने भीतर कुछ आविष्कार करने की, कुछ ढका है; उसे अनढंका करने की बात है। इस विज्ञान को ही मैं धर्म कहता हूं।
सांइस पदार्थ के भीतर जो छिपा है उसे उघाड़ती है, धर्म चैतन्य के भीतर
जो छिपा है उसे उघाड़ता है। साइंस पदार्थ के भीतर विश्लेषण करती है, खोज करती है और अंत में पदार्थ की जो शक्ति है, उसका आविष्कार करती है। धर्म चेतन के भीतर जो प्रसुप्त है उसकी शोध करता है। और अंततः उसके भीतर जो निहित है, उसका आविष्कार करता है। विज्ञान अपनी खोज के अंत पर, अणु पर पहुंच गया है, धर्म अपनी खोज कें अंत पर, आत्मा पर पहुंच जाता है। विज्ञान की अंतिम शोध का परिणाम अणु है, अणु की शक्ति है, और आज हम जानते हैं वह अणु की शक्ति सारे जगत को नष्ट करने की स्थिति में लाकर उसने खड़ा किया है। अकेले पदार्थ की शक्ति अगर आविष्कृत हुई तो मनुष्य का अंत हो जाना सुनिश्चित है, अगर अकेले पदार्थ की शक्तियां विकसित हुईं, वे शक्तियां अंधी हैं, और अगर अनियंत्रित मनुष्य का भी विकास नहीं हुआ तो मानवता का जमीन पर अंत हो जाना सुनिश्चित है। आज सारी जमीन पर जो भी विचार करते हैं, उनके मस्तिष्क में एक ही विचार दिन-रात उन्हें बेचैन किए है कि क्या मनुष्य बहुत शीघ्र अपने को समाप्त कर लेगा? क्या हम उस अंतिम चरण पर आ गए जहां, मनुष्य अपना सार्वजनिक एक युनिवर्सल सुसाइड कर लेगा? एक सार्वजनिक आत्मघात कर लेगा? निश्चित ही हम उस किनारे पर खड़े हैं। हमें ज्ञात हो, या हमें ज्ञात न हो, हम एक बड़े भयंकर विस्फोट और ज्वालामुखी के मुंह पर खड़े हैं, जिसका निर्माण स्वयं हमने किया है। एक अज्ञान में हमने उसका निर्माण किया है, और वह निर्माण यह हुआ विगत दो-ढाई हजार वर्षों में हमने पदार्थ के भीतर जो शक्ति छिपी है, उसे खोज निकाला है।
मनुष्य के भीतर जो शक्ति छिपी है, वह हमारी सोई हुई है। उस मनुष्य के भीतर सोई हुई शक्ति को जगाने का उपाय करना है। दीखता नहीं, दिखाई नहीं पड़ता, मनुष्य की देह को देखेंगे, तो हड्डी और मांस और मज्जा के अतिरिक्त कुछ भी उसमें दिखाई नहीं पड़ रहा। मनुष्य की देह को काटेंगे, छाटेंगे, विश्लेषण करेंगे, कोई आत्मा उसमें उपलब्ध नहीं होती। मनुष्य की देह का कोई भी आविष्कार मनुष्य की आत्मा के संबंध में कोई सूचना नहीं देता है, इसलिए स्वाभाविक था कि विज्ञान कह दे कि मनुष्य के भीतर कोई आत्मा नहीं है। और अब धीरे-धीरे हम इसे स्वीकार करते चले जा रहे हैं। वे लोग भी जो मंदिर में और मस्जिद में अपनी आराधना देते हैं, और वे लोग भी जो अब तक प्राचीन परंपराओं को श्रद्धा देते हैं, उनके भीतर भी, उनके आंतरिक मन में कहीं श्रद्धा खंडित हो गई है, आस्थाएं गिर गई हैं। और एक संदेह खड़ा हो गया है, पता नहीं आत्मा हो भी या न हो? वह दिखाई तो नहीं पड़ती है। आत्मा दिखाई नहीं पड़ती है, इसलिए स्वाभाविक है कि निष्कर्ष इस जगत ने लेना शुरू किया है कि आत्मा नहीं है। जो नहीं दिखाई पड़ता है, वो नहीं है, ऐसा हमारा तर्क है।

12

महावीर का, बुद्ध का, कृष्ण का और क्राइस्ट का तर्क कुछ दूसरा है। उनका कहना है जो दिखाई पड़ता है, वह सार्थक नहीं है, जो दिखाई पड़ने के पीछे है, जो नहीं दिखाई पड़ता वही सार्थक है। उनका कहना है, जो दिखाई पड़ता है, उसका कोई मूल्य नहीं, जिसको दिखाई पड़ता है, उसका मूल्य है। उनका कहना है जो दिखाई पड़ता है, उसका कोई भी मूल्य नहीं, जिसको दिखाई पड़ता है, उसका मूल्य है। ये बड़े... बड़े क्रांतिकारी बिंदु का अंतर है। और इस अंतर को अगर हम न समझें, तो हम धर्म को नहीं समझ सकते हैं। धर्म उसकी खोज है जिसको सब दिखाई पड़ रहा है। और विज्ञान उसकी खोज है, जो दिखाई पड़ रहा है। विज्ञान ऑब्जेक्ट की दृष्य की खोज है, धर्म सब्जेक्ट की, उस अदृश्य द्रष्टा की खोज है, जिसको दिखाई पड़ रहा है। पदार्थ, पदार्थ को नहीं देख सकता है। पदार्थ को पदार्थ का बोध नहीं हो सकता है। जिसे पदार्थ का बोध हो रहा है, जिसे दूसरों का बोध हो रहा है, वह अपनी आत्यंतिक सत्ता में जड़ नहीं हो सकता है। बोध जड़ का लक्षण नहीं हो सकता है, यह अवेयरनेस, यह होश, यह दिखाई पड़ना, यह जड़ता की सामर्थ्य के बाहर है, इसे हम चैतन्य कहते हैं। इस चैतन्य की जो इकाई है उसे हम आत्मा कहते हैं। इस आत्मा को उपलब्ध कर लेने पर ही व्यक्ति जीवन में आनंद को और शांति को उपलब्ध होता है। व्यक्ति जीवन में बंधन रहितता को, मुक्ति को उपलब्ध होता है। उसके अभाव में जीवन एक दुख यात्रा है, एक बोझिल यात्रा है।
मैंने कहाः आत्मा को उपलब्ध करके ही कोई व्यक्ति आनंद को उपलब्ध होता है, तो क्या यह हम समझें कि हम आत्मा को उपलब्ध नहीं हैं। यह असंभव है कि हम आत्मा को उपलब्ध न हों। आत्मा को हम उपलब्ध हैं, आत्मा निरंतर हमारे भीतर है, लेकिन हमें उसका बोध नहीं है। जिसको सबका बोध है, हमें स्वयं उसका बोध नहीं है। जिसे सबका बोध हो रहा है, उसके प्रति हम अबोध बने हुए हैं। उसका हमें स्मरण, उसके प्रति हमारा जागरण, उसके प्रति हमारा होश, उसके प्रति हमारी अवेयरनेस नहीं है। यह अवेयरनेस, यह होश अगर घटित हो जाए, तो जीवन तत्क्षण रूपांतरित हो जाता है, एक नये ट्रांसफॉर्मेशन में, एक नये लोक में प्रविष्ट हो जाता है। वहां हम जानते हैं कि न दुख है वहां, हम जानते हैं कि न मृत्यु है वहां, हम जानते हैं न पीड़ा है, न संताप है, वहां हम जानते हैं एक अविच्छिन्न शांति के प्रवाह को, वहां हम जानते हैं अविच्छिन्न जीवन के प्रवाह को, वहां हम जानते हैं उस चैतन्य को, जिस चैतन्य में रंच मात्र भी दुख का कण भी प्रवेश नहीं कर सकता। मैं स्मरण करता हूं, एक घटना को स्मरण करता हूं।
एक बहुत बड़े भवन में ऊपर एक भोज आयोजित था। कुछ मित्र वहां इकट्ठे थे,
एक साधु भी आमंत्रित था। वे भोजन में संलग्न थे, और चर्चा में संलग्न थे, और भूकंप आया। अभी यहां भूकंप आ जाए, तो मेरा आपको स्मरण भूल जाएगा। पड़ोसी का स्मरण भूल जाएगा, यहां क्या हो रहा है, उसका स्मरण भूल जाएगा। एक ही स्मरण रह जाएगा अपने को बचा लेने का। आप भागेंगे, शायद आप होश में भी नहीं भागेंगे। शायद भागना भी बेहोशी और मूर्च्छा में होगा। शायद भागते वक्त, भागना शुरू करने के बाद आपको ज्ञात होगा कि आप बैठे थे थोड़ी देर पहले और अब भाग रहे हैं। भागने के पहले स्मरण से भी आप न भागेंगे, भागने के बीच में कहीं आपको बोध आएगा कि अब आप भाग रहे हैं। वैसा ही हुआ, भूकंप आया, वह भवन कंपा, लोग भागे, वे उस साधु की चर्चा को भूल गए, जिससे बात होती थी। वहां सीढ़ियों पर भीड़ हो गई, छोटी सीढ़ियां, बहुत लोग, वह जो मेजबान था, जिसने आमंत्रण दिया था, वह जो आतिथेय था, उसने लौट कर देखा कि मित्र साधु का क्या हुआ? अतिथि का क्या हुआ? वह देख कर हैरान हुआ, वह साधु आंख बंद किए अपनी ही जगह पर बैठा है और उसके चेहरे पर भूकंप का कोई भी प्रभाव नहीं है। उसके चेहरे पर कोई रेखा भी नहीं है।
वह बहुत घबड़ाया, उसके मन में हुआ कि आज इस व्यक्ति के पास रुक जाना बड़ा आवश्यक है। इस व्यक्ति के पास रुक जाना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा असामान्य व्यक्ति आज तक जीवन में उपलब्ध नहीं हुआ, जिसे भूकंप के कंप का अनुभव नहीं हो रहा है। और जिस पांच मंजिले भवन पर बैठा है मृत्यु को निमंत्रण दिए, उसके पास रुक जाना उसे जरूरी लगा, वह रुक गया। कोई मिनट, डेढ़ मिनट के बाद

भूकंप समाप्त हुआ, नगर में बहुत भवन गिर गए हैं, नगर में बहुत कोलाहल है; उस मकान के भी कुछ हिस्से गिर गए हैं, सब अस्त-व्यस्त हो गया है। उस साधु ने आंख खोली और जहां से चर्चा टूट गई थी, वहीं से प्रारंभ कर दिया। उसके मेजबान ने कहा कि मैं हैरान हूं! आपको चर्चा का स्मरण है कि कहां टूट गई थी? मैं हैरान हूं कि वो अधूरा वाक्य जो रह गया था, उसको आप फिर पूरा कर रहे हैं। लेकिन मुझे कुछ स्मरण नहीं कि पहले आपने क्या कहा? भूकंप के पहले की दुनिया और बाद की दुनिया में मुझे बहुत अंतर पड़ गया है। मुझे कुछ स्मरण नहीं है, अभी मैं कुछ न समझ सकूंगा। मुझे तो एक ही बात पूछनी है, अभी यह भूकंप आया, लेकिन आप तो बिल्कुल अकंप थे? मुझे यह पूछना है इस भूकंप का क्या हुआ?
उस साधु ने जो कहाः उस साधु ने जो कहा वह मन के किसी बहुत आंतरिक कोने में रख लेने जैसा है। बहुत संजो कर रख लेने जैसा है। उस साधु ने कहा कुछ वर्ष हुए, तब मुझे भी भूकंप आते थे। उस साधु ने कहा, कुछ वर्ष हुए, तब मुझे भी भूकंप आते थे, फिर मैं अपने भीतर एक ऐसा आश्रय-स्थल पा गया, वहीं सरक जाता हूं, वहां तक कोई भूकंप नहीं पहुंचता है। वहीं सरक गया था। अपने भीतर एक ऐसे शांति के केंद्र को पा गया हूं जहां बाहर की कोई अशांति नहीं पहुंचती है।
क्या मैं आपको कहूं हम अशांत हैं, इसलिए बाहर की अशांति हम तक पहुंच जाती है? क्या मैं आपको कहूं कि हम दुखी हैं, इसलिए बाहर का दुख हम तक पहुंच जाता है; क्या मैं आपको कहूं कि हम निरंतर कंपित हैं, इसलिए बाहर के भूकंप हम तक पहुंच जाते हैं। अगर हमारे भीतर रिसेप्टिविटी न हो उन्हें पकड़ने की, वे हम तक नहीं पहुंच पाएंगे। हम तक वही पहुंचता है, जिसे पकड़ने को हम उत्सुक और आग्रह से आतुर हैं। हम निरंतर दुखी होते चले जाते हैं, सिर्फ इसलिए कि हम केवल दुख को ही पकड़ने में समर्थ हैं, हम उसी के प्रति रिसेप्टिव हैं। हम दुख को ही आमंत्रित करते और इकट्ठा करते हैं।
काश! हमारे भीतर आनंद की किरण फूट जाए, यह सारा जगत आनंद में परिणित
हो जाएगा क्योंकि आप केवल आनंद के प्रति ही रिसेप्टिव, संवेदनशील रह जाएंगे। तब जो भी आपके पास आएगा, वह आनंद होगा। अगर भीतर आनंद हो, सारा जगत आनंद में परिणित हो जाएगा। अगर भीतर सुगंध हो सारा जगत सुगंध में परिणित हो जाएगा। अगर भीतर संगीत हो, सारा जगत संगीत में परिणित हो जाता है। क्योंकि आप केवल संगीत को पकड़ पाते हैं, संगीत को इकट्ठा कर पाते हैं, संगीत को ही आमंत्रित कर पाते हैं, संगीत के ही अतिथेय बन पाते हैं। संगीत ही आपका अतिथि हो पाता है। भीतर दुख है, भीतर अशांति है, चारों तरफ से अशांति दौड़ कर चली आती और इकट्ठी होती चली जाती है। दुखी व्यक्ति सारे जगत को दुखी; दुखी व्यक्ति सारे जगत से दुख को आता हुआ, अनुभव करेगा। दुखी व्यक्ति का जगत को देखने के केंद्र का नाम संसार है, आनंद को उपलब्ध व्यक्ति का जगत को देखने का नाम ब्रह्म और परमात्मा है। आनंदित व्यक्ति इस जगत को संसार नहीं देखता, इस जगत को एक आनंद की लीला में परिणित हुआ देखता है। तब यह जगत परमात्मा हो जाता है, तब यह जगत भगवत स्वरूप हो जाता है। कोई भगवान नहीं है कहीं, जगत भगवत्ता में परिणित हो जाता है।
भगवान कोई व्यक्ति नहीं है, एक दृष्टि है भगवान। भगवान कोई व्यक्ति नहीं है, एक दृष्टि है जगत को देखने की। आनंद की दृष्टि में सारा जगत भगवान हो जाता है, दुख की दृष्टि में सारा जगत संसार हो जाता है, और अत्यंतिक दुख की स्थिति में सारा जगत नर्क हो जाता है। हमारे भीतर दृष्टियां बदलती हैं, बाहर सारा जगत बदलता चला जाता है। यही जगत दूसरा हो जाता है, अगर हम दूसरे हो जाएं। यही सब कुछ अन्य हो जाता है, अगर हम अन्य हो जाएं। उस केंद्र को उपलब्ध करना है, उस शांति के बिंदु को उपलब्ध करना है, जहां से देखने पर सारा जगत भगवत स्वरूप हो जाता है, धर्म इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मैं आपको स्मरण दिलाऊं न तो जैन कोई धर्म है, न हिंदू कोई धर्म है, न इस्लाम कोई धर्म है, न ईसाइयत कोई धर्म है; धर्म तो एक ही है केवल। बहुत धर्म असंभव हैं। बहुत धर्म नहीं हो सकते हैं, जो भी सत्य है एक ही हो सकता है। असत्य ही केवल अनेक हो सकते हैं, असत्य अनेक हो सकते हैं, सत्य एक ही हो सकता है।

बीमारियां अनेक हो सकती हैं, स्वास्थ्य एक ही हो सकता है। आपने अनेक स्वास्थ्यों के नाम नहीं सुने होंगे। और न आपने अनेक सत्यों के नाम सुने होंगे।
विकृतियां अनेक हो सकती हैं, संस्कृति एक ही हो सकती है। विकार मात्र अनेक हो सकते हैं, केंद्र एक ही हो सकता है, परिधि पर बिंदु अनेक हो सकते हैं, सत्य एक है, धर्म एक है, उसका कोई नाम नहीं है। और जिस धर्म के साथ नाम हो, शक हो जाना काफी है कि जितना वह नाम वजनी होगा, उतना ही धर्म भीतर कम हो जाएगा। जितना विशेषण भारी और बोझिल होगा, धर्म भीतर उतना ही कम हो जाएगा। जितना विशेषण और नाम शून्य और खाली होगा, उतना ही भीतर धर्म ज्यादा हो जाएगा। अगर बिल्कुल विशेषण शून्य हो तो धर्म पूरा हो जाएगा। ये सारे विशेषण धर्म नहीं हैं, और इन विशेषणों के कारण हम बहुत मुसीबत में पड़े हैं। और मनुष्य के जीवन में, मनुष्य के इतिहास में, इन विशेषणों ने, इन संप्रदायों ने, इन नामों ने जितनी पीड़ा पहुंचाई है, न तो राजनीति ने पहुंचाई है, न अत्याचारियों ने पहुंचाई है, न पापियों ने पहुंचाई है, न दुष्टों ने पहुंचाई है, न हिंसकों ने पहुंचाई है; इस जगत को जितना पीड़ा तथाकथित धार्मिक लोगों ने, धर्म के नाम पर चलाए हुए प्रचलित संप्रदायों ने पहुंचाई है, उतना किसी और ने नहीं पहुंचाई है।
मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देने में जितने संप्रदाय और नाम कारगर हो गए हैं, उतना और कोई चीज कारगर नहीं हुई है। मनुष्य और मनुष्य के बीच और कोई दीवाल नहीं है, सिवाय विशेषणों के और मैं आपको कहूं, जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ दे, वह मनुष्य को स्वयं से जोड़ने में सफल नहीं हो सकता। जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ दे, वह मनुष्य को स्वयं से जोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता है। और जो धर्म मनुष्य को स्वयं से जोड़ता है, वह अनिवार्य रूप से सबसे जोड़ देता है। स्वयं से जो जुड़ गया, वह सब से जुड़ गया, क्योंकि वहां स्वयं के तल पर कोई भेद नहीं है। वहां एक ही समान ज्योतियां प्रकाशित हैं। वहां एक ही ज्योति का प्रकाश, एक ही चैतन्य का स्पंदन चल रहा है, इसलिए मैं कहूं कि जैन, हिंदू और मुसलमान इन शब्दों को छोड़ दें, इनके नीचे शब्दों से शून्य जो मिलेगा, वह धर्म है। ये शब्द व्यर्थ हैं, इन शब्दों से संप्रदाय बने हैं, इन शब्दों से दीवालें बनी हैं, और इन शब्दों के कारण धर्म तिरोहित होता चला जा रहा है, किसी आदमी से पूछो धार्मिक हो? वह कहेगा, मैं जैन हूं, या हिंदू हूं या मुसलमान हूं, धार्मिक आदमी जमीन पर खोजना मुश्किल हो गया है। और अगर मैं किसी से कहूं कि मैं धार्मिक हूं तो भी वह खोद-खोद कर पूछता है, कौन से धार्मिक? वह पूछना चाहता है किस धर्म के? जैसे कि कोई धर्म भी हो सकता है।
मुझे महावीर जैन नहीं मालूम होते, और क्राइस्ट क्रिश्चयन नहीं मालूम होते। और कृष्ण मुझे हिन्दू नहीं मालूम होते, अगर ये कुछ भी हैं तो ये सारे लोग एक ही धर्म के हिस्से हैं। और एक ही धर्म की अभिव्यक्तियां हैं। और काश, हमारी आंखों से नामों का जाल गिर जाए, तो हम कितने समृद्ध हो जाएंगे। तब सारे सत्पुरुषों की परंपरा हमारी होगी, अभी तो विभक्त परंपराएं हैं, कोई किसी की है, कोई किसी की है। तब महावीर ही हमारे नहीं होंगे, तब कृष्ण और क्राइस्ट भी और कनफ्यूशियस भी हमारे होंगे। तब मनुष्य की सारी परंपरा, प्रत्येक मनुष्य की अपनी होगी, तब प्रत्येक मनुष्य को सारा अतीत के मनुष्य का इतिहास उसका अपना होगा। तब हम एक सागर के किनारे खड़े हो जाएंगे, अभी हम छोटी-छोटी नालियों के किनारे खड़े हुए हैं। तब हम एक अनंत सागर के किनारे खड़े हो जाएंगे। धर्म एक ही है, एक अनंत सागर की भांति, और संप्रदाय उस पर बने छोटे-छोटे घाटों की तरह हैं। जो घाटों को सागर समझ लेगा, वह गलती में है। घाट बिल्कुल सागर नहीं हैं। घाट की सीढ़ियां बिल्कुल सागर नहीं हैं, घाट की सीढ़ियां उपयोगी जरूर हैं, वे सागर तक पहुंचा सकती हैं, लेकिन घाट की सीढ़ियां सागर तक जाने से रोक भी सकती हैं, जो पहुंचा सकता है, वह रोक भी सकता है। जो सीढ़ियां मुझे इस भवन तक लाई हैं, वे सीढ़ियां मुझे इस भवन तक पहुंचा भी सकती हैं, अगर मैं सीढ़ियां चढ़ूं और उन्हें छोड़ता चला जाऊं। और

वे सीढ़ियां मुझे इस भवन तक आने से रोक भी सकती हैं, अगर मैं सीढ़ियों को पकड़ लूं और वहीं रुक जाऊं।
संप्रदाय पकड़ लिए जाएं, धर्म के दुश्मन हो जाते हैं। संप्रदाय छोड़ दिए जाएं धर्म की सीढ़ियां हो जाते हैं। वे ही सीढ़ियां रुकावट के पत्थर बन सकती हैं, वे ही पत्थर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बन सकते हैं। संप्रदाय जोर से पकड़े गए हैं, इसलिए धर्म जमीन पर तिरोहित होता चला जा रहा है। सम्प्रदायों को छोड़ देना होगा, ताकि धर्म वापस पुनर्स्थापित हो सके। जैन को कहना होगा मैं जैन नहीं हूं, धार्मिक हूं; हिंदू को कहना होगा, मैं हिंदू नहीं हूं धार्मिक हूं; ईसाई को कहना होगा, मैं ईसाई नहीं हूं, धार्मिक हूं। सारे जगत में धर्म के उद्घोष को वापस स्थापित कर देना जरूरी है। महावीर ने अपने शब्दों में कहीं नहीं कहा जैन धर्म, वे कहते थे, सम्यक धर्म। बुद्ध ने कहीं नहीं कहा, बुद्ध धर्म, वे कहते थे, सच्चा धर्म। क्राइस्ट ने कहीं नहीं कहा, क्रिश्चियन धर्म, कृष्ण ने कहीं नहीं कहा, हिंदू धर्म; आज तक जगत में जो भी सत्य को उपलब्ध हुए हैं, उन्होंने धर्म को कोई नाम नहीं दिया, उन्होंने दो ही धाराएं मानी हैं, एक अधर्म की धारा है, एक धर्म की धारा है। आप हैरान होंगे, अधर्म की अनेक धाराएं क्या आपने देखीं? कि यह फलां नाम का अधार्मिक है, यह फलां नाम का अधार्मिक है, यह फलां नाम का अधार्मिक है--अधर्म की एक ही धारा है। लेकिन धर्म की अनेक धाराएं कैसे हो सकती हैं? अगर अधार्मिक एक ही तरह का होता है सारी जमीन पर, तो धार्मिक को भी एक ही तरह का होना पड़ेगा, तो अधर्म नष्ट हो सकता है, अधार्मिक संगठित है, धार्मिक असंगठित है, यह धर्म की पराजय का कारण है।
अधार्मिक एक हैं, धार्मिक अनेक हैं, यह धर्म के निरंतर तिरोहित होते जाने का कारण है। अगर वापस जमीन पर धर्म की उद्घोषणा देनी है, तो स्मरण और साहस करना होगा इस बात का कि संप्रदाय की सीढ़ियों को छोड़ने की हम हिम्मत करें, और सागर को आमंत्रित करें, जिसका कोई कूल-किनारा नहीं है। जो घाटों में और रास्तों में सीमित नहीं है। उस असीम की तरफ ले जाने का द्वार, उस असीम तक पहुंचने का मार्ग किसी दूसरे से होकर नहीं जाता है।
महावीर ने एक अदभुत बात कही है, उन्होंने कहा है जो मेरी शरण पकड़ेगा,
वह स्वयं तक नहीं पहुंच सकेगा। जो मेरी शरण पकड़ेगा, वह सत्य तक नहीं पहुंच सकेगा, सत्य का कोई दरवाजा दूसरे से होकर नहीं जाता है, स्वयं से होकर जाता है। स्वाभाविक भी है, आप मेरे कितने ही निकट हों, मेरे बहुत निकट नहीं हो सकते, मुझसे दूर बने ही रहेंगे, मैं आपको बिल्कुल आलिंगन में भी ले लूं, तब भी आप मुझसे दूर बने रहेंगे और वह फासला इतना ज्यादा है कि वह पूरा नहीं हो सकता। इस जगत में मेरे अतिरिक्त मेरे करीब कोई भी नहीं हो सकता है। मैं लाख उपाय करूं, लाख चेष्टाएं करूं, लाख प्रेम करूं, मोह करूं, आसक्ति करूं, करीब ले लूं, आखिर में पाऊंगा, मेरे और आपके बीच बहुत फासला है। हम दूर ही खड़े हैं। दो बिंदु इस जगत में इतने निकट नहीं आ सकते कि निकट हो जाएं, उनके फासले अनंत हैं और अनंत ही बने रहेंगे। फासले कम हो जाएं, दूरी कम नहीं हो सकती। मेरी बात समझ रहे हैं आप? फासले कम हो जाएं, इन दो हाथों के बीच फासला ज्यादा है, अब कम हो गया, लेकिन दूरी कम नहीं हुई, दूरी है, दूरी मौजूद है। ये हाथ मेरे बिल्कुल करीब आ गए, तब भी दूरी मौजूद है। सिर्फ एक ही बिंदु है जिससे मैं दूर नहीं हूं, वह कहीं मेरे भीतर है, वह कहीं मैं हूं।
सत्य को जिसे जानना है, स्वाभाविक है कि निकट पर ही पहली पकड़ और पहुंच करनी होगी। जो निकट को नहीं जानता, वह दूर को कैसे जान सकेगा? जो निकट से परिचित नहीं है, वह दूर से परिचित कैसे हो सकेगा? जो स्वयं से अपरिचित है, वह सर्व को जानने चले, नासमझ है, अज्ञानी है। सत्य का द्वार स्वयं से होकर जाएगा। और कोई रास्ता नहीं है। कोई रास्ता कभी नहीं था, और कभी नहीं हो सकेगा। सबसे पहली चोट, सबसे पहली दस्तक मुझे अपने पर देनी होगी। सबसे पहले मुझे अपने द्वार खटखटाने होंगे।
लेकिन हम ऐसे हैं कुछ, हम सारी जमीन के दरवाजों को खटखटाएंगे और हम सारी जमीन के मकानों की सीढ़ियों को चढ़ आएंगे और एक मकान को अछूता छोड़

देंगे, जो कि अपना है। एक को छोड़ देंगे और अनेक को खोजते फिरेंगे। इस खोज के पीछे भी कोई कारण है। कोई आधारभूत कारण जरूर है, अन्यथा इतने करोड़-करोड़ लोग एकदम अज्ञान में नहीं हो सकते थे। अज्ञान बिल्कुल बेबुनियाद नहीं हो सकता। उसके भीतर भी कोई बुनियाद होगी, अन्यथा इतने लोग दुख में नहीं हो सकते थे, जबकि सारे तीर्थंकर, सारे अवतार, सारे ईश्वर पुत्र, सारे पैगम्बर कहते हों कि आनंद का राज्य तुम्हारे भीतर है। जब कि सारे मनीषी चिल्लाते हों कि आनंद का रा.ज तुम्हारे भीतर है तो यह कितनी अजीब सी बात है, इतने लोग दुख में, और पीड़ा में और अज्ञान में कैसे हैं? अगर संख्याओं से ही तय किया जाए, तो हम ही ठीक निकलेंगे, महावीर, बुद्ध गलत हो जाएंगे, उनकी संख्या बहुत कम है। अगर निर्णायक बहुमत हो, तो हम ही ठीक निकलेंगे, महावीर, बुद्ध और कृष्ण, क्राइस्ट सब गलत हो जाएंगे, उनकी संख्या बहुत अल्प है। यह हो सकता है कि वे भ्रम में हों क्योंकि थोड़े से लोग हैं, यह बिल्कुल मुश्किल मालूम होता है कि अरबों लोग भ्रम में हों। भ्रम की घटना थोड़े से लोगों पर घट सकती है, इतने लोगों पर? लेकिन यह बड़ी हैरानी की बात है, हम उनको तो सत्यमय मानते हैं और अपने को भ्रममय मानते हैं। तो इस भ्रम के पीछे जरूर कोई बहुत गहरा आधार होना चाहिए। आधार है, और उस आधार को हम न समझ लें तो स्वयं तक पहुंचना नहीं हो सकता। वह आधार यह है, बहुत संक्षिप्त में, वह आधार एक छोटी सी कहानी से आपको कहूं।
एक अंधेरी रात आने के करीब है, सांझ हो गई, सूरज ढलने को है। और एक बूढ़ी स्त्री घर के भीतर अपना कपड़ा सीती है। सूरज ढलने लगा और उसकी सुई गिर गई और खो गई। सूरज ढल गया बाहर, उसके कमरे के भीतर अंधेरा उतरने लगा। सुई छोटी, स्त्री बूढ़ी, आंखें उसकी कमजोर, ढूंढना मुश्किल, वह ढूंढती हुई बाहर की दहलान में आ गई, वहां थोड़ी रोशनी थी। भीतर के कमरे में अंधेरा घना हो गया। वह खोजती हुई सुई को बाहर की दहलान में आ गई, वहां अभी ढलते सूरज की थोड़ी रोशनी थी। लेकिन जब तक वह दहलान में खोजे-खोजे तब कि सूरज और ढल गया। अब तो बाहर दरवाजे की सड़क पर थोड़ी रोशनी थी। वह खोजती हुई सड़क पर आ गई। कोई करीब से युवक निकला, उसने पूछा, क्या गुम गया, मैं सहायता करूं? उस स्त्री ने कहाः सहायता करो तो बड़ी कृपा हो, मेरी आंखें कमजोर हैं और सुई गुम गई है। उस युवक ने थोड़ी देर खोजा वहां कोई सुई दिखाई नहीं पड़ी, फिर उसने पूछा कि सुई छोटी चीज है, पहले यह बताना ठीक-ठीक कि किस जगह गिरी, तो शायद मिल भी जाए, इतना बड़ा रास्ता मैं कहां सुई को खोजूंगा। वह स्त्री बोली, यह मत पूछो कि कहां गिरी, यह घाव मेरा मत छेड़ो मेरे घर में दीया नहीं है। सुई गुमी तो भीतर है, लेकिन वहां रोशनी नहीं है। सुई गिरी तो भीतर है, लेकिन वहां रोशनी नहीं है, और जहां रोशनी है वहां सुई गिरी नहीं, यह मेरी दुविधा है। तो यह मत पूछो कि सुई कहां गिरी, तुम तो खोज दो, मिल जाए तो ठीक है। वह युवक बोला आप पागल हैं? सुई जहां गुमी है, वहीं मिल सकती है। प्रकाश जहां है, वहां मिलने का कोई कारण नहीं है। वह स्त्री बहुत हंसने लगी, वह एक फकीर थी। और वह कहने लगी, लेकिन सब वहीं खोजते हैं, जहां प्रकाश है। कोई वहां नहीं खोजता जहां गुमना हुआ है। सच ही हम सब वहां खोजते हैं, जहां प्रकाश है। हम वहां नहीं खोजते जहां गुमना हुआ है। क्या कभी अपने से पूछा कि जिसे हम खोज रहे हैं, उसे हमने खोया कहां है?
खोज के पहले जो यह नहीं पूछ लेता कि हमने खोया कहां है, उससे ज्यादा नासमझ और कौन होगा? सारे जगत में मनुष्य अगर कुछ खोज रहा है, तो आनंद को खोज रहा है। छोटे से कीड़े, पतंगे से लेकर मनुष्य तक अगर कोई खोज चल रही है, तो आनंद की चल रही है। कुछ भी आप खोज रहे हों अंततः आप आनंद खोज रहे हैं। पर कभी पूछा कि आनंद खोया कहां है? फिर आनंद को खोज रहे हैं जहां प्रकाश पड़ रहा है वहां। आंखें बाहर खुलती हैं मनुष्य की, भीतर नहीं खुलती। हाथ बाहर फैलते हैं, भीतर नहीं फैलते। कान बाहर सुनते हैं, भीतर नहीं सुनते। सारी इंद्रियों का प्रकाश बाहर पड़ता है, सारी इंद्रियां बहिर्मुखी हैं, अंतर्मुखी कोई इंद्री नहीं है। सारी इंद्रियों का प्रकाश बाहर पड़ने से जैसे ही हम पैदा हुए, बाहर खोजना शुरू कर देते हैं। यह बाहर की खोज, इस बुनियाद पर चल रही है कि सारे शरीर का द्वार बाहर खुलता है। इंद्रियां

बाहर खुलती हैं, इसलिए हम बाहर खोज रहे हैं, लेकिन यह अपने से नहीं पूछते कि खोया कहां है? और आप कहेंगे यह भी तो हो सकता है, कि हमने खोया न हो, और हम बिल्कुल नई चीज खोज रहे हों। यह भी तो कह सकते हैं कि हम बिल्कुल नई चीज खोज रहे हों, हमने खोया न हो, यह बिल्कुल गलत है। आप उस चीज को कभी नहीं खोज सकते जिसका आपको स्मरण न हो। जिसके आपके आंतरिक तल में कोई आकांक्षा और अनुभव न हो।
आप उसे कभी नहीं खोज सकते हैं। खोजने का अर्थ है कि खोया है। खोजने का अर्थ है कि खोया है। आपने कभी सोचा तो नहीं कि हम आनंद को खोजें, इस जमीन पर, इस पूरे जगत में कोई कभी सोचता है कि मैं आनंद को क्यों खोज रहा हूं? आनंद को बस हम खोज रहे हैं। आनंद हमारी सोच-विचार का परिणाम नहीं है, आनंद की खोज, आनंद की खोज हमारा निसर्ग है, हमारा स्वभाव है।
आनंद की खोज हमारे सोच-विचार का परिणाम नहीं है, आपने सोच कर तय नहीं किया है कि मैं आनंद खोजूं। आप आनंद खोज रहे हैं, आपने पाया है कि आप आनंद खोज रहे हैं। अगर सोच-विचार कर तय किया होता, तो नई चीज की खोज भी हो सकती थी। सोच-विचार कर तय नहीं किया। निसर्ग से एक आकांक्षा पकड़े हुए है कि आनंद को उपलब्ध करो, दुख से दूर हो जाओ और आनंद को पा लो। जरूर कहीं हमने खोया है। जरूर हमें आनंद का कोई अनुभव है। जरूर किसी तल पर हम आनंद से परिचित हैं। जरूर किसी तल पर हम आनंद में प्रतिष्ठित हैं। अन्यथा यह आनंद की खोज, अनविचारी, अनसोची नहीं चल सकती थी।
और मैं आपको स्मरण दिलाऊं कि आप दुख से बचना क्यों चाहते हैं? कोई भी दुख को वरण क्यों नहीं करना चाहता? कोई भी दुख को स्वीकार क्यों नहीं करना चाहता? दुख को हम अस्वीकार करते हैं, इसलिए कि दुख हमारे भीतर से ताल-मेल नहीं खाता है। दुख हमारे भीतर से समन्वित नहीं होता है। दुख हमारे भीतर जाकर संगीत नहीं, विसंगीत उत्पन्न करता है। हम जैसे कुछ भीतर हैं, दुख उसका सजातीय नहीं है। इसलिए दुख का विरोध है। दुख से हटना है, दुख से पलायन है। दुख से बचाव है, दुख से रक्षा है। और आनंद की खोज है। खोज उसकी होती है जो हमारे स्वरूप से मेल खाता हो। विरोध उसका होता है जो हमारे स्वरूप के विपरीत जाता हो। दुख स्वरूप के विपरीत जाता है, इसलिए हर एक बचना चाहता है, आनंद स्वरूप के अनुकूल आता है, इसलिए प्रत्येक उपलब्ध होना चाहता है। आनंद प्रत्येक उपलब्ध होना चाहता है, इसलिए कि आनंद कहीं प्रतिष्ठित है। कहीं हमारी आंतरिक सत्ता में हम आनंद को इस क्षण भी हमारी जड़ें वहां फैली हुई हैं। आनंद हमारे भीतर है, इंद्रियों के द्वार बाहर हैं, यह मनुष्य के जीवन का संघर्ष और अंर्तद्वंद्व है। सुई भीतर गुमी है, रोशनी बाहर है। खोज बाहर हो रही है, खोना भीतर हुआ है। तो फिर क्या हो? फिर क्या रास्ता बने? जिन्होने बहुत खोजा बाहर, खोज कर थक गए, जिन्होंने बाहर सब पा लिया, और पाया कि कु छ भी नहीं मिला, उन्हें एक अंतर्दृष्टि का जागरण हुआ कि भीतर और खोज कर देख लें।
महावीर राजपुत्र थे। सब उनके घर में था, सब समृद्धि, सब सुख, सब उनके पास था और अनुभव होता था कुछ भी पास नहीं है। बाहर पाने जैसा कुछ भी शेष नहीं था, लेकिन पाने को सब कुछ शेष था। इस स्थिति ने, इस टेंशन ने, इस तनाव ने कि सब मेरे पास है और मेरे पास कुछ भी नहीं, कुछ भी शेष नहीं रहा, पाने को और सब कुछ शेष है पाने को, इस तनाव ने इस संघर्ष ने स्मरण दिलाया; इस दुविधा की अत्यंतिक स्थिति ने स्मरण दिलाया, अपने भीतर और खोज देखो। अपने भीतर और खोज देखो, हो सकता है जो बाहर उपलब्ध न हुआ हो, वह भीतर उपलब्ध हो जाए। हो सकता है जो बाहर संभव न हुआ हो, वह भीतर संभव हो जाए। भीतर देखने के लिए क्या करें? आंख भीतर देखती नहीं, भीतर छूने के लिए क्या करें? हाथ भीतर छूते नहीं। भीतर जाने के लिए क्या करें, किस रास्ते से भीतर जाएं? मैंने कहा इंद्रियां बाहर जाती हैं, कोई इंद्री भीतर नहीं जाती, तो फिर भीतर कैसे जाएं? तो भीतर जाने की एक राह मिल गई, सब इंद्रियां बाहर जाती हैं, अगर कोई भी इंद्री कार्य न कर रही हो, सब इंद्रियां निष्क्रिय हों, तो उस क्षण में आप भीतर हो जाएंगे।

आंख बाहर देखती है, कान बाहर सुनते हैं, स्पर्श बाहर होता है, स्वाद बाहर होता है, गंध बाहर होती है, अगर ये पांचों इंद्रियां बिल्कुल जड़वत हों, उस घड़ी में आप कहां होंगे? बाहर जाने का तो द्वार नहीं मिलेगा। बाहर जाने का चैतन्य को द्वार नहीं मिलेगा, सारे द्वार बंद हैं--तब चैतन्य अपने में होगा। तब आप भीतर होंगे, भीतर जाने के लिए द्वार की जरूरत नहीं है। केवल बाहर न जाएं, इतना की काफी है। और भीतर जाने के लिए मार्ग हो भी नहीं सकता। क्योंकि कोई मार्ग भीतर नहीं ले जा सकता। मार्ग सब बाहर ले जाते हैं और दूर ले जाते हैं। स्मरण रखें, कोई भी मार्ग भीतर नहीं ले जा सकता। सब मार्ग बाहर ले जाते हैं और दूर ले जाते हैं। मार्ग मात्र दूर को जोड़ने का उपाय है, अपने को जोड़ने के लिए कोई मार्ग नहीं हो सकता। मार्ग दो को जोड़ सकते हैं, एक ही अपने को पाना चाहे तो कैसे मार्ग होगा?
मुझे आप तक आना हो तो मैं चल कर आऊंगा, और मुझे अपने तक जाना हो तो चल
कर कैसे जाऊंगा? आप तक जाना हो तो चलना पड़ेगा, अपने तक आना हो तो चलना छोड़ कर रुकना पड़ेगा। दूसरे तक जानने को चलना है, अपने तक आने को रुकना है। सब योग रुकने का उपाय हैं। सब योग इंद्रियों को रोक लेने का उपाय हैं। महावीर उन बारह वर्षों की एकांत साधना में इंद्रियों के द्वार पर न जाने का अभ्यास कर रहे थे। आंख के पीछे न जाने का अभ्यास, कान के पीछे न जाने का अभ्यास, स्पर्श के पीछे न जाने का अभ्यास, स्वाद के पीछे न जाने का अभ्यास, गंध के पीछे न जाने का अभ्यास; सारी इंद्रियों के पीछे न जाने का अभ्यास। हम पूरे जीवन इंद्रियों के पीछे जा रहे हैं, हम उनके गुलाम और दास हैं। इंद्रियों के पीछे न जाने का अभ्यास, वरन इंद्रियों के भी पीछे जाने का अभ्यास। इंद्रियों का अनुगमन तो नहीं, इंद्रियों के पीछे प्रतिक्रमण, वापस लौटना, इंद्रियों का अनुगमन तो नहीं, इंद्रियों से प्रतिक्रमण। इंद्रियों के पीछे तो नहीं जाना, उनके पीछे उनका अनुयायी तो नहीं होना, लेकिन उनसे वापस लौटना और अपने में आना।
इंद्रियों में जो जाएगा, वह संसार में पहुंच जाएगा। इंद्रियों से जो अपने को रोक लेगा, वह स्वयं में पहुंच जाता है। इंद्रियों में जो जाएगा, वह संसार में पहुंच जाएगा, इंद्रियों को जो रोक लेता है, वह स्वयं में पहुंच जाता है। इंद्रीय निरोध स्वरूप की प्रतिष्ठा का उपाय है। सारी साधना इंद्रीय निरोध की साधना है। कैसे होगा इंद्रीय निरोध? आंख देखती है, रूप को देखती है, कान सुनते हैं वाणी को सुनते हैं। कैसे यह होगा कि कान वाणी को न सुने? आंख रूप को न देखे, कैसे होगा? महावीर भी तो देखते होंगे, आंख तो नहीं फोड़ ली होगी। और जिन्होंने आंख फोड़ ली हैं, वे नासमझ रहे होंगे। आंख फूटने से कुछ भी नहीं होता। आंख फूट जाए तो रूप मिट नहीं जाते और प्रगाढ़ होकर चित्त में चलने लगते हैं। कान फोड़ लेने से तो नहीं होगा। हत्या अपनी कर लेने से तो नहीं होगा। महावीर क्या करते होंगे? आंख तो देखेगी, आंख का तो देखना धर्म है, कान तो सुनेंगे, कान का तो सुनना धर्म है। हाथ तो छुएंगे, हाथ का तो स्पर्श करना धर्म है। फिर महावीर क्या साधते होंगे, कोई भी साधक क्या साधता होगा? क्या आंख फोड़ लें, कान फोड़ लें, हाथ तोड़ दें तो काम हो जाएगा? इंद्रियों को नष्ट करना नहीं, इंद्रियों को निरोध करना बड़ी अलग बात है। अनेक नासमझ हैं जो इंद्रियों को नष्ट करने में लग जाते हैं। वे इतने पागल हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं।
मैं एक दफा एक गांव पर एक यात्रा पर गया। एक बैलगाड़ी में सवार था, एक साधु मेरे साथ थे। वह कोई आठ दिन से उपवास कर रहे थे। उपवास तो वह नहीं था, अनाहार ही होगा। भूखे मर रहे थे। शरीर को सब तरह का कष्ट देते थे और दमन करते थे, वह मेरे साथ थे। बैलगाड़ी में हमें जाना पड़ा। मैं तो सो गया, वे बैठे रहे। वे बैठे रहे इस डर से कि जो हमारा कोचवान था, जो बैलगाड़ी चलाता था, वह कुछ पागल था। वह कुछ पागल था, उसका कुछ विश्वास नहीं था कि कहां ले जाए। मैंने तो कहाः मैं तो सोता हूं, कहीं भी ले जाएगा, तब तक सोएंगे। बाकी वे बैठे रहे। मैं सोया रहा। रात, कोई आधी रात को अचानक मेरी नींद खुली, वे भी मुझे उठा रहे थे, कोई बैलगाड़ी पर जोर से डंडे मार रहा था। मैं उठ कर बैठा, देखा, वह जो बैलगाड़ी चलाने वाला था, वह अपने डंडे को बैलगाड़ी को मार

रहा है और गालियां बक रहा है। मैंने उससे पूछाः क्या बात है? वह बोलाः बैलगाड़ी ठीक से नहीं चलती। वह बैलों को तो कुछ नहीं कर रहा था, बैलगाड़ी को मार रहा था। वे साधु मुझसे कहने लगे, मैंने पहले ही कहा था, यह पागल है और इसके साथ चलना ठीक नहीं है। मैंनें उन साधु को कहाः मुझे यह पागल नहीं दिखाई देता, बिल्कुल आपका सजातीय दिखाई देता है। आप भी यही कर रहे हैं, मन तो चल नहीं रहा तो शरीर को ठीक कर रहे हैं। मन साथ नहीं दे रहा तो शरीर को मार रहे हैं। यह बेचारा बैलगाड़ी नहीं चल रही तो बैलगाड़ी को ही मार रहा है, बैलों की फिकर नहीं कर रहा है। अगर यह पागल है, तो वे सारे लोग पागल हैं जो शरीर को ठोक रहे हैं, मार रहे हैं, आंख फोड़ रहे हैं, कान तोड़ रहे हैं।
आप हैरान होंगे, ऐसे लोग हुए जिन्होंने आंखें फोड़ लीं, इसलिए कि रूप परेशान न करे। जिन्होंने शरीर को सुखाया है, इसलिए कि शरीर वासना न दे। जिन्होंने अपने अंग काट लिए, इसलिए कि वे अंग उन्हें वासनाओं में न ले जाएं। जो शरीर के दुश्मन इसलिए बने कि शरीर जैसे कहीं ले जाता हो। शरीर को तोड़ भी लें तो कुछ न होगा, वह आत्मघात होगा, आत्मसाधना नहीं। सवाल आंखें फोड़ लेने का नहीं है, सवाल आंखें होते हुए रूप पर से हटाने का है। सवाल देखते हुए दृश्य पर से सरक जाने का है।
जब भी मैं आपको देख रहा हूं तब तीन चीजें घटित हो रही हैं, उस तरफ आप हैं जिनको मैं देख रहा हूं, इस तरफ मैं हूं जो देख रहा है, और हम दोनों के बीच देखने का संबंध है। तीन चीजें हैं, जो दिखाई पड़ रहा है वह दृश्य, जो देख रहा है वह द्रष्टा और जो संबंध हो रहा है वह दर्शन। दर्शन के दोनों तरफ दो हैं, एक द्रष्टा है, एक दृश्य है। अभी हम जब देखते हैं, तो दृश्य पर हमारा जोर होता है, दृश्य हमारी आंख में होता है। साधक का जोर दृश्य पर न होकर द्रष्टा पर होता है। जब वह देखता है तो उसकी फिकर नहीं करता जो दिखाई पड़ रहा है, उसका स्मरण रखता है जो देख रहा है। देखते समय उसका स्मरण जो देख रहा है, उसका नहीं जो दिखाई पड़ रहा है। भोजन करते वक्त उसका स्मरण नहीं जिसका स्वाद आ रहा है, उसका स्मरण जिसको स्वाद आ रहा है। चलते वक्त, उठते वक्त, बैठते वक्त, जीवन की समस्त क्रियाओं में उस चैतन्य का स्मरण, जिसके आस-पास ये सारी क्रियाएं घटित हो रही हैं। इनके निरंतर स्मरण को महावीर ने विवेक साधना कहा है। महावीर ने कहा हैः आयुषमन विवेक से उठे, विवेक से बैठे, विवेक से सोए, विवेक से भोजन करे।
जो होशपूर्वक अपनी सारी क्रियाएं करेगा, इंद्रियों के सारे संबंधों में होश को जाग्रत रखेगा, निरंतर उसका स्मरण रखेगा जो भीतर बैठा है, उसका नहीं जो बाहर दिखाई पड़ रहा है। क्रमशः उसकी दृष्टि में परिवर्तन उत्पन्न होगा, रूप की जगह वह दिखाई पड़ेगा जो रूप का देखने वाला है, सारी क्रियाओं के बीच उसका अनुभव होगा जो कर्त्ता है। निरंतर के स्मरण, निरंतर की स्मृति, उठते-बैठते सतत चौबीस घंटे की जागरूक साधना के माध्यम से व्यक्ति इंद्रियों के उपयोग के साथ भी इंद्रियों से मुक्त हो जाता है। दृश्य विलीन हो जाते हैं, द्रष्टा का साक्षात शुरू हो जाता है। इंद्रियों का निरोध होता है, इंद्रियां रुकती हैं, उनका बहिर्गमन विलीन हो जाता है, वे अंतर्गमन को उपलब्ध हो जाती हैं। इंद्रियों को मिटा नहीं देना, इंद्रियों को दृश्य से, "पर" से मुक्त कर देना है। उस घड़ी में इंद्रियां जब "पर" से मुक्त हों, व्यक्ति स्वयं को जानता और अनुभव करता है। उस अतेंद्रीय स्थिति में आत्मा का अनुभव होता है।
इंद्रीय की स्थिति में केवल पदार्थ का अनुभव हो सकता है। इंद्रियां केवल पदार्थ को जान सकती हैं, इंद्रियां आत्मा को नहीं जान सकती हैं। क्योंकि सारा विज्ञान, सारी साइंस इंद्रियों की खोज पर निर्भर है। इसलिए उसका स्वभाविक परिणाम है कि जगत में केवल मैटर है, माइंड नहीं है। जगत में केवल पदार्थ है परमात्म कुछ भी नहीं है। इंद्रियों के पीछे सरकना, इंद्रियों को दृश्य से, आब्जेक्ट से मुक्त करना इतनी ही साधना है। इतनी साधना जिसके जीवन में प्रविष्ट हो, स्मरणपूर्वक जो अपने जीवन को इस भांति साधना में ढाल ले, एक दिन, एक विस्फोट होगा उसके भीतर, और वह उसको अनुभव कर पाएगा जो वह है। उसको जो वह है, कोई दूसरा नहीं बता सकता है। उसको वह जो है,

कोई शास्त्र नहीं बता सकते हैं। उसको वह जो है, कोई तीर्थंकर भी जबरदस्ती उसे वहां तक नहीं पहुंचा सकता है।
प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं स्व-चेष्टा से, स्व-साधना से पूरा करना होता है। और महावीर की क्रांति धार्मिक साधना में जो सबसे महत्वपूर्ण है, वह यही है कि उन्होंने कहा, कोई परमात्मा भी नहीं है जिसकी स्तुति और प्रार्थना तुम्हें अपने तक पहुंचा देगी और सत्य तक पहुंचा देगी। कोई परमात्मा नहीं है, महावीर की दृष्टि से परमात्मा का अविष्कार हमारे आलस्य का अविष्कार है। स्तुतियां और प्रार्थना और भक्ति का अविष्कार हमारे प्रमाद और आलस्य का अविष्कार है। हम बचना चाहते हैं खुद करने से, स्तुति करके निपट लेते हैं और सोचते हैं प्रभु सब कर देगा। हम नहीं करना चाहते कुछ, प्रभु पर सब टाल देते हैं। जो स्वयं कुछ नहीं करना चाहता, कोई प्रभु उसके लिए कुछ भी नहीं कर सकेगा।
जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है, वह ट्रांसफरेबल नहीं है। उसे एक आदमी दूसरे को नहीं दे सकता। वह टांसफरेबल कमोडिटी नहीं है, वह ऐसी वस्तु नहीं है कि मैं आपको दे दूं। जो भी दिया-लिया जा सकता है, उसका दो कौड़ी का मूल्य है। जो नहीं दिया-लिया जा सकता वही अर्थपूर्ण है, वही जीवन में सार्थक है। न तो प्रेम हम एक-दूसरे को ले-दे सकते हैं, न प्रकाश, न ज्ञान, न आत्मानुभूति ले-दे सकते हैं। स्वयं ही पाना होगा। स्वयं ही खोदना होगा, अपने भीतर से ही, अपनी चेष्टा से ही, सतत एकाकी चेष्टा से, स्मरण रखें, मैं कह रहा हूं सतत एकाकी चेष्टा से। इसलिए धर्म अत्यंत वयैक्तिक है। धर्म का कोई संबंध भीड़-भाड़ से नहीं है कि दस आदमी मिल कर धार्मिक हो जाएं। दस आदमी मिल कर धार्मिक होने का कोई संबंध नहीं है। एक-एक आदमी को अपने साथ कुछ करना होगा। अकेले अपने साथ करना होगा, न कोई सहयोगी है, न कोई संगी है, न कोई साथी है।
वहां यूनान में एक विचारक हुआ, प्लेटीनस। उसने एक शब्द उपयोग किया हैः फ्लाइट ऑफ द अलोन टु द अलोन। अकेले की अकेले तक उड़ान। अकेले की अकेले तक उड़ान है। कोई संगी नहीं, कोई साथी नहीं, कोई सहयोगी नहीं, कोई नहीं, अकेले आपको प्रवेश करना होगा। अकेला होना होगा तो आप उसको जान पाएंगे, जो आप अकेले में हैं। अकेले होने का नाम समाधि है। जब आप बिल्कुल अकेले रह गए, आप ही रह गए और कोई भी नहीं है, केवल आप रह गए, उसी का नाम सामायिक है। जब न कोई मंत्र है, न कोई तंत्र है, न कोई स्मरण है, न कोई विचार है, न कोई रूप है, न कोई गंध है; जहां इंद्रियों से उपलब्ध कुछ भी नहीं है, मात्र अकेले सिर्फ, सिम्पल एण्ड प्योर एक्झिस्टेंस, वह अकेली आपकी सत्ता मात्र रह गई, वही एक विस्फोट है, वही एक क्रांति है; वहीं एक बायलिंग पॉइंट, वहीं एक उत्ताप का बिंदु उपलब्ध होता है जहां आप मनुष्य नहीं रहते और परमात्मा से संयुक्त हो जाते हैं।
ईश्वर करे, प्रत्येक के जीवन में उत्ताप का वह बिंदु आए कि वहे परमात्मा से संयुक्त हो जाए। वह संयोग ही कृतार्थता का आनंद, अनुभूति, प्रेम और शांति से व्यक्ति को भर देता है। उस अनुभव के बाद ही जीवन में सारे फूल खिलते हैं, अहिंसा के, सत्य के, ब्रह्मचर्य के। ये साधे नहीं जाते, आत्मा का अनुभव हो, ये अपने आप खिल जाते हैं। कोई फूल साधा नहीं जाता है, कोई फूल पौधों से निकाले नहीं जाते हैं। आत्मा भीतर बोध से भर जाए, सारा जीवन सदाचार से भर जाता है, नीति धर्म का परिणाम है। सदाचार सद-अनुभव का परिणाम है। ईश्वर करे, परमात्मा के साथ आप संबंधित हो जाएं ताकि आपके जीवन के सारे बाह्य रूपों में परमात्मा संबंधित हो जाए। उस घड़ी को, उस आनंद की घड़ी को कोई शब्द नहीं कि कह सकूं, कोई ध्वनि नहीं कि उसे आप तक विस्तारित कर सकूं, कोई इशारा नहीं कि आपको उस तरफ इंगित कर सकूं। कोई रास्ता नहीं है। कोई रास्ता नहीं, इसलिए धर्म आज तक कहा नहीं जा सका है। सब शास्त्र कह कर असमर्थ हो गए हैं। सब साधु, सब संत कहकर, अनुभव के लिए कह कर, चुप हो गए हैं। असल में जो भी निःशब्द में और मौन में उपलब्ध होता है, जो भी वाणी के ऊपर उपलब्ध होता हो, उसे वाणी में उतारने का कोई उपाय नहीं है।

इतनी देर फिर भी मैंने कहा, और इतने अनंत वर्षों से कितने-कितने लोगों
ने कहा है, यह बहुत अजीब सा लगेगा, अगर धर्म कहा नहीं जा सकता फिर कहा क्या जाता है? धर्म तो नहीं कहा जा सकता, सत्य तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन अगर भीतर आपके वह अनुभव की किरण फूटी हो तो उसकी प्यास को संवेदित किया जा सकता है। उसकी प्यास को विस्तृत किया जा सकता है। प्यास को संक्रामक किया जा सकता है। इतनी देर मैंने जो कहा, उसमें सत्य कुछ भी नहीं है सिवाय इसके कि अगर आप में थोड़ी सी प्यास उसको जानने की पैदा हो जाए, ईश्वर करे आप प्यासे हों, अतृप्त हों, असंतुष्ट हों, यही मेरी कामना है, ताकि आप उसे पा सकें जो सब संतोष दे देता है। ताकि आप उस सागर को पा सकें, जहां सारी प्यास नष्ट हो जाती है।

मेरी इन बातों को इतनी खुशी से सुना है, उसके लिए बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं।

पथ की खोज
तीसरा प्रवचन

मूर्च्छा परिग्रह

तीन तरह के प्रश्न पूछे हैं अभी। एक तो ईश्वर संबंधी है, ईश्वर है या नहीं है?

जब भी हम ईश्वर के संबंध में सोचते हैं तो हम एक व्यक्ति की तरह, एक इंडिविजुअल की तरह सोचते हैं। जब हम पूछते हैं, ईश्वर है या नहीं तो हमारा मतलब होता है, एक व्यक्ति की तरह ईश्वर कहीं बैठा हुआ है या नहीं बैठा हुआ। व्यक्ति की तरह ईश्वर की जो कल्पना है, वह मनुष्य की अपनी ही कल्पना में निर्मित हुई है। मनुष्य ईश्वर की कल्पना ऐसी ही करता है जैसा वह स्वयं है। वह काम करता है, ईश्वर काम करता होगा। वह कुछ बनाता और मिटाता है, तो ईश्वर बनाता और मिटाता होगा। ईश्वर की जो कल्पना है, वह मनुष्य के ही रूप का विस्तृत रूपांतरण है। और यह मनुष्य की कल्पना के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है, अगर बिल्लियां कल्पना करें तो ईश्वर की कल्पना बिल्ली जैसी होगी। अगर कुत्ते कल्पना करें तो ईश्वर की कल्पना कुत्ते जैसी होगी। बिल्कुल स्वाभाविक है कि हम अपने ही रूप में ईश्वर को कल्पित करते हैं।
इस कल्पना में एक तो सहज स्वाभाविकता भी है। क्योंकि हम और कोई रूप जानते नहीं, दूसरा अहंकार की एक तृप्ति भी है कि ईश्वर भी हमारे जैसा ही है, हमारा सजातीय है। जब कि ईश्वर अगर है तो व्यक्ति नहीं हो सकता है, व्यक्ति इसलिए नहीं हो सकता है कि जो भी व्यक्ति है, जो भी एक सीमा में बंधा है, जिसकी भी एक देह और एक रूप है, वह शाश्वत नहीं हो सकता, वह नित्य नहीं हो सकता।
दूसरी बात, जो एक जगह केंद्रित हो व्यक्ति की तरह, वह सर्वव्यापी नहीं
हो सकता है। वह सब जगह नहीं हो सकता है, जो एक जगह हो। यह जो हमारी ईश्वर की धारणा है व्यक्ति की तरह, यह बहुत ही भ्रांत है। ईश्वर को व्यक्ति न मान कर, शक्ति मानना ज्यादा उपादेय है। और शक्ति का अर्थ अगर हम समझें तो मैं कहूंगा, भगवान तो नहीं हैं जगत में, भगवत्ता जरूर है। डिवनिटी तो नहीं है, डिवाइननेस जरूर है; कोई भगवान तो नहीं है, लेकिन भगवत्ता; कोई देवता तो नहीं है, लेकिन दिव्यता; कोई चैतन्य व्यक्ति तो नहीं है, लेकिन चेतना का अनंत प्रवाह जगत में है। जगत में पदार्थ तो हमें दिखाई पड़ता है। पदार्थ के भीतर हमें चैतन्य का भी प्रवाह अनुभव होता है। एक पौधे को बढ़ते हुए देखते हैं, एक बच्चे को पैदा होते हुए, जीवित और फिर मरते देखते हैं। सारे जगत में पदार्थ दिखाई पड़ता है, पदार्थ के किनारे ही किनारे कोई अदृश्य चैतन्य भी विकसित और जीवित, पल्लवित होता दिखाई पड़ता है।
पदार्थ की समग्रीभूत एकता, टोटेलटी का नाम जगत है। चैतन्य की समग्रीभूत एकता का नाम ईश्वर है। जगत में जड़ पदार्थ है और चैतन्य परमात्मा है। यह व्यक्ति की तरह कोई परमात्मा नहीं जिसकी पूजा की जा सके, जिसकी स्तुति की जा सके, जिसको बुलाया जा सके, जो वक्त पर आपके काम पड़ जाए। चैतन्य का एक प्रवाह है, जिसको आप तो नहीं बुला सकते लेकिन जिसमें आप सम्मिलित हो सकते हैं। जिसको आप तो आमंत्रित करके अपने द्वार नहीं ला सकते, लेकिन अपने द्वार तोड़ कर जिसमें आप सम्मिलित हो सकते हैं। एक बूंद सागर को अपने में तो नहीं बुला सकती, लेकिन बूंद सागर में गिर जा सकती है। यदि हमारे भीतर हमें चैतन्य का अनुभव हो, तो हमें सारे जगत में चैतन्य
का विस्तार अनुभव होगा। हमें वही अनुभव होता है जगत में, हम उसी को अनुभव कर पाते हैं जो हमें अपने भीतर अनुभव होता है। अगर आपको ज्ञात होता हो कि आप केवल देह हैं, शरीर हैं, तो दूसरे भी केवल आपको देह और शरीर दिखाई पड़ेंगे। स्वाभाविक भी है, अगर मुझे अनुभव होता हो कि मैं केवल शरीर मात्र हूं, तो आप मुझे केवल शरीर मात्र ही दिखाई पड़ेंगे। और तब सारा जगत मुझे मैटर और पदार्थ दिखाई पड़ेगा। लेकिन अगर मुझे भीतर अनुभव होता हो उसका जो कि आत्मा है, चेतना है, तो फिर आप मुझे शरीर दिखाई नहीं पड़ेंगे। जिस क्षण

23

मैंने जान लिया कि मैं आत्मा हूं, आप भी मुझे आत्मा दिखाई पड़ेंगे। तब जगत मुझे पदार्थ दिखाई नहीं पड़ेगा। पदार्थ के भीतर मुझे चैतन्य का अनंत स्रोत और प्रवाह दिखाई पड़ेगा।
कहीं सोया हुआ, कहीं जागा हुआ, जहां बिल्कुल जड़ है वहां भी वह चैतन्य
का प्रवाह एकदम अनुपस्थित नहीं है, वहां वह प्रसुप्त है, वहां भी दिखाई पड़ेगा। तो परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है, एक अनुभूति है। संसार भी एक अनुभूति है और परमात्मा भी एक अनुभूति है। जो व्यक्ति अपने को देह मानता है, उसे सारा जगत पदार्थ दिखाई देता है। जो अपने को आत्मा जानता है, उसे सारा जगत परमात्मा दिखाई देता है। मेरे लिए ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं, ईश्वर चैतन्य का अनंत स्रोत और प्रवाह है। और यह अनंत स्रोत और प्रवाह है, पूजा और अर्चना करने के किसी मतलब का नहीं है। यह अनंत स्रोत और प्रवाह है, ज्ञान की एक अनुभूति है। और इस अनुभूति तक पहुंचने के लिए आप स्वयं अपने चैतन्य को जानने में समर्थ हो जाएं तो पहुंच जाते हैं।
ईश्वर की जो धारणाएं हैं कि आपने अगर बुरा किया, तो आप पर क्रुद्ध हो जाएगा। अगर आपने उसकी स्तुति की तो आप पर प्रसन्न हो जाएगा। ये आदमी की अपने ही रूप में बनाई गई धारणाएं हैं। पुराने ईश्वर की ढेर धारणाएं हैं कि वह अपने दुश्मनों को नष्ट कर देता है। जो उसका विरोध करते हैं उनको नरक में डाल देता है। उनको सड़ाता और गलाता है। यह हमने आदमी की कल्पना में ही किया। और जो उसकी स्तुति करते हैं और उसकी खुशामद करते हैं, और उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, और उसके मंदिर की मूर्ति के सामने रोज सिर टेकते हैं, उन पर वह बड़ा प्रसन्न हो जाता है और उनको बड़े पुण्य का लाभ देता है। और उनको स्वर्गों में विराजमान करता है, और सुख के अनंत द्वार खोल देता है।
यह एक सामान्य आदमी की जो शक्ल है, वही शक्ल बड़े रूप में ईश्वर की है। सामान्य आदमी खुशामद से प्रसन्न होता है और निंदा से क्रुद्ध होता है। ईश्वर में कोई भी भाव नहीं हो सकते। जिसमें भाव हों वह अभी ईश्वर नहीं हुआ। ईश्वर की सत्ता निर्भाव होगी। और निर्भाव व्यक्ति नहीं हो सकता है। निर्भाव व्यक्ति नहीं हो सकता है। आपसे कोई ईश्वर का ऐसा संबंध नहीं है कि आप उसको पिता बना लें, पुत्र बना लें, माता बना लें, पत्नी बना लें, प्रेमी बना लें। सारी दुनिया में ये जो ईश्वर के रूप प्रचलित हैं, हम किसी न किसी रूप में वे ही संबंध उससे भी कायम कर लेते हैं जो हमारे आस-पास के लोगों से हैं। सूफी हैं वे उसे अपना प्रेयसी समझते हैं, ढेर भक्त हैं उसे अपना पति समझते हैं, ढेर भक्त हैं जो उसे अपना पिता समझते हैं। पिता तो बहुत लोग समझते हैं, कोई उसे मां के रूप में भी समझता है। ऐसे भक्त भी हैं जो वात्सल्य भाव रखते हों, उसको पुत्र के रूप में और बच्चे के रूप में समझते हों। जो मनुष्य के अपने संबंध हैं, उन्हीं संबंधों को वह प्रोजेक्ट कर लेता है परमात्मा पर।
परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है, इसलिए आप उससे संबंधित नहीं हो सकते।
और उससे आपका कोई संबंध कायम नहीं हो सकता है। फिर जब आप अपने भीतर उसका अनुभव करेंगे जो असंग है और असंबंधित है, जिसका किसी से कोई संबंध नहीं है, उस चैतन्य का अनुभव करेंगे, उस वक्त आप परमात्मा से संबंधित हो जाएंगे। मेरी धारणा आपको कह रहा हूं, ईश्वर पूजा के योग्य नहीं है, ईश्वर होने के योग्य जरूर है। यानी आप पूजा तो नहीं कर सकते, लेकिन हो सकते हैं। ईश्वर आपके ही भीतर छिपी हुई एक संभावना है, अनुभूति की। अगर आपके भीतर परिपूर्ण उस चैतन्य का विकास हो, तो आप ईश्वर हो सकते हैं। ईश्वर होने की संभावना है, ईश्वर के आराधना की कोई संभावना नहीं, ईश्वर को प्रसन्न करने की कोई संभावना नहीं है। क्योंकि वहां कोई है नहीं जो प्रसन्न हो जाए। वहां कोई व्यक्ति केंद्र नहीं है जो आपसे प्रभावित हो जाए। आपके भीतर कोई छिपा हुआ बीज है जो विकसित हो तो ईश्वर में परिणत हो जाएगा। आप बीज रूप से परमात्मा हैं। और चाहें तो आप वृक्ष रूप से परमात्मा हो सकते हैं। जो अभी बीज है वह कल विकास हो सकता है। और प्रत्येक व्यक्ति, और प्रत्येक चेतना इस भांति दो स्थितियों में होती है, एक तो वह स्थिति है जब चेतना को प्रतीत होता है कि मैं पदार्थ हूं, ये अज्ञान की स्थिति है, और जब चेतना को प्रतीत होता है कि

मैं परमात्मा हूं, ये ज्ञान की स्थिति है। अज्ञान की स्थिति दुख की स्थिति है, ज्ञान की स्थिति आनंद की स्थिति है। इसलिए कहा परमात्मा परम आनंद है।
मेरे लिए वह कोई व्यक्ति नहीं है।

दूसरे तरह के प्रश्न पाप और पुण्य से संबंधित हैं।
यह पूछा है कि पाप और पुण्य में क्या फर्क है? और हर किसी की कल्पना में अंतर हो सकता है। अलग-अलग कल्पना हो सकती है पाप और पुण्य की। इसलिए वास्तव में पाप और पुण्य क्या है?

यह सच है अगर हम दुनिया के अलग-अलग लोगों की कल्पनाएं समझें, तो पाप और पुण्य की सारे लोगों की कल्पनाएं अलग हैं। हो सकता है जो बात किसी एक परंपरा में पाप हो, वह दूसरी परंपरा में पाप न हो। यह भी हो सकता है कि वह दूसरी परंपरा में पुण्य हो। एक परंपरा किसी भी तरह की हिंसा को पाप समझती है, ऐसी परंपराएं हैं जो बलि वध को पाप नहीं समझतीं, पुण्य समझती हैं। तो पाप-पुण्य की सारे जागतिक कल्पनाओं में बड़ा भेद है, यह बहुत स्वाभाविक है पूछना कि फिर पाप क्या है और पुण्य क्या है।
मैं आपको बताऊं, मेरे लिए पाप और पुण्य कर्म से संबंधित नहीं हैं। यह जरा दिक्कत की बात मालूम होगी। आमतौर से हम यही सोचते हैं, पाप कर्म और पुण्य कर्म, कुछ कर्म पाप हैं और कुछ कर्म पुण्य हैं। ऐसा हम सोचते हैं। मैं ऐसा नहीं सोचता। पाप और पुण्य मेरे लिए कर्म न होकर चित्त की स्थितियां हैं। इसे समझ लेना जरूरी होगा। पाप और पुण्य मेरे लिए कर्म न होकर चित्त की स्थितियां, स्टेट ऑफ मांइड हैं। वही कर्म एक स्थिति में पाप हो सकता है और दूसरे चित्त की स्थिति में पुण्य हो सकता है। वही कर्म एक चित्त की स्थिति में पाप हो सकता है, दूसरे चित्त की स्थिति में पुण्य हो सकता है; एक स्थिति में बंधनकारी हो सकता है, दूसरी स्थिति में बंधनकारी नहीं हो सकता है।
जैसे आप भी राह पर चलते हैं, कीड़े मरते होंगे, आप श्वास लेते हैं कीड़े मरते होंगे, इन सबका पाप बंध है। महावीर भी तीर्थंकर होने के बाद भी रास्ते पर चलते हैं और श्वास लेते हैं। तीर्थंकर कैवल्य-ज्ञान को पा लेने के चालीस वर्ष बाद तक भी वे श्वास लेते हैं, कीटाणु मरते हैं, फिर उनका पाप बंध? और अगर उनका पाप बंध होता है तो महावीर को फिर जन्म लेना होगा और उन पापों का निपटारा करना होगा। तीर्थंकर का फिर जन्म होता नहीं, या तो यह बात गलत होगी और या फिर तीर्थंकर की चित्त की स्थिति में वही कर्म पाप न देता होगा जो कर्म आपकी चित्त की स्थिति में पाप देता है।
एक व्यक्ति एक मंदिर बनाता है, कहने वाले समझाने वाले पुरोहित और पंडितों का वर्ग कहेगा, यह पुण्य कर्म है। लेकिन वह आदमी मंदिर बना कर एक तख्ती उसके ऊपर अपने नाम की लगा देता है। यह पुण्य कर्म नहीं रहा, यह पाप कर्म हो गया। इसने मंदिर बनाया ही नहीं, इसने मंदिर में जो भगवान की मूर्ति रखी है, वह झूठी है। यह अपनी ही रखना चाहता था, नहीं रख पाया। यह अपने लिए ही बनाया गया मंदिर है, जो तख्ती उसके बाहर लगी है, वह इसकी सूचना है। यह अपने अहंकार की प्रतिष्ठा है, भगवान की प्रतिष्ठा नहीं है। यह मंदिर बनाना पुण्य कर्म नहीं है, ये पाप कर्म हो गया। आपके चित्त की स्थितियां पाप की होती हैं और पुण्य की होती हैं, कर्मों का कोई प्रश्न नहीं है।
जैसे खुद महावीर की भी धारणा यह है कि अगर परिपूर्ण जागरूक चित्त की अवस्था में कोई कर्म किया जाए तो वह पाप नहीं हो सकता है। और मूर्च्छित चित्त की अवस्था में कोई कर्म किया जाए, वह पाप हो जाता है। जैसे आप अनुभव करेंगे, अगर आपको क्रोध करना है तो आप होश में क्रोध नहीं कर सकते हैं। आज तक जमीन पर कोई व्यक्ति होश में क्रोध नहीं कर सका है। क्रोध करने के लिए मूर्च्छित होना, बेहोश होना जरूरी है। इसलिए सारे क्रोध करने वाले क्रोध के बाद पछताए पाए जाते हैं, पश्चात्ताप करते हैं कि बड़ा बुरा हो गया, कैसे

मैंने कर लिया, मैं नहीं चाहता था और किया। निश्चित ही होश में आने पर पश्चात्ताप हो रहा है, उन्होंने जो किया, बेहोशी में किया होगा।
दुनिया का कोई बुरा काम बेहोशी के बिना नहीं किया जा सकता। बेहोशी बड़ी जरूरी शर्त है, आज तक किसी आदमी ने किसी की हत्या होश में नहीं की है और न कोई कर सकता है। एक बड़े आवेश की, बेहोश स्थिति चाहिए। तब कोई कर सकता है। मूर्च्छा चाहिए, मूर्च्छा के आवेग में जो होगा वह पाप है। मेरी बात समझ लें आप, चित्त की मूर्च्छा के आवेग में होगा जो कर्म, वह पाप है और चित्त की परिपूर्ण जागरूक, अमूर्च्छित स्थिति में जो कर्म होगा, वह पुण्य है। चित्त की अमूर्च्छित अवस्था में जब आप परिपूर्ण होश में भरे हैं जो होगा, वह पुण्य है। और जब आप भीतर बेहोश हो गए हैं, आप को कुछ पता नहीं चल रहा कि आप हैं भी या नहीं और कोई कर्म कर रहे हैं, वह कर्म बेहोशी है। आपने सबने क्रोध किया है, उसका स्मरण कर लें। उस क्रोध की स्थिति में आप होश में नहीं होते हैं। तो क्रोध पाप है और अक्रोध पुण्य है, अशांति पाप है और शांति पुण्य है। शांति से जो कर्म निकले वह पुण्य कर्म होगा, अशांति से जो कर्म निकले वह पाप कर्म होगा। शांति से कोई भी ऐसा कर्म निकलना असंभव है, जो किसी को दुख पहुंचा सके। शांति से कोई भी कर्म ऐसा निकलना असंभव है, जो किसी को दुख पहुंचा सके।
महावीर घर छोड़ना चाहते थे। उनके पिता से उन्होंने आज्ञा चाही कि मैं
घर छोड़ना चाहता और संन्यस्त होना चाहता हूं। उनके पिता ने कहा कि मेरे रहते, मेरा युवा पुत्र घर छोड़ेगा तो मुझे बहुत दुख होगा। जब मैं न रह जाऊं तब तुम संन्यासी हो जाना, महावीर रुक गए। महावीर रुके कि जब तक पिता हैं, वे संन्यास न लेंगे। महावीर का जो संन्यास था, वह एक बड़ी परम शांति से निकल रहा था। यह भी उन्हें संभव नहीं था कि वह पिता को यद्यपि पिता को मोह के कारण दुख हो रहा था, लेकिन यह भी उन्हें संभव नहीं हुआ कि पिता को दुख दें कोई बात ना थी और थोड़े दिन रुक जाते हैं। वह रुक गए, दो वर्ष रुके, पिता कि मृत्यु हुई, अंत्येष्टि करके वापस लौटते थे, रास्ते में उन्होंने अपने बड़े भाई को कहा, अब मैं संन्यस्त हो जाऊं। उनके बड़े भाई ने कहा तुम कैसे पागल हो, एक वज्राघात हुआ कि पिता नहीं रहे और तुम आज घर छोड़ दोगे। और तुम्हें यह भी संकोच नहीं होता कि अभी हम पिता को समाप्त करके ही लौटते हैं। तो मैं जब तक ना कहूं तब तक संन्यस्त मत होना।
महावीर फिर रुक गए। वे फिर दो वर्ष रुके, इन दो वर्षों में घर के लोग हैरान हुए कि वे तो संन्यस्त हो ही चुके हैं। घर में थे, लेकिन घर में ना होने के बराबर हो गए हैं। हवा की तरह उनका होना हो गया है। उठते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, फिरते हैं, लेकिन जैसे घर में नहीं हैं। जैसे घर का उन्हें पता ही नहीं चल रहा है, जैसे वे वन में ही हैं, ऐसा ही जी रहे हैं। घर के लोग हैरान हुए, उन्होंने कहा, अब इनको रोक रखना व्यर्थ है और घर के लोगों ने कहा, अब आप चाहें तो चले जाएं, क्योंकि जहां तक हम समझते हैं, आप जा ही चुके हैं। और सिर्फ नाममात्र को हमारे कारण उपस्थित हैं। महावीर चले गए। यह संन्यस्त होना पुण्य कर्म है। एक व्यक्ति की पत्नी मर गई, एक व्यक्ति को घाटा लग गया और वह संन्यासी हो जाता है, वह पाप कर्म है। वह क्रोध में, आवेश में, दुख में, पीड़ा में, मूर्च्छा में अगर संन्यास भी लिया तो पाप है। मेरी आप बात समझ रहे हैं। यानी मैं यह कह रहा हूं कि चित्त की अवस्था की बात है, आपके कर्म की नहीं। संन्यस्त होने जैसा कर्म भी पाप कर्म हो सकता है। अगर चित्त की अवस्था मूर्च्छा है। संन्यास जैसी चीज, पाप कर्म हो सकती है अगर चित्त मूर्च्छित है। और मूर्च्छा में संन्यास लिया हो और संन्यास शांति से फलित हुआ हो, शांति से विकसित हुआ हो, तो पुण्य कर्म हो जाएगा।
मेरी बात बिल्कुल साफ समझे होंगे कि मैं यह कह रहा हूं कि कर्म बिल्कुल अर्थहीन है, विचारणीय नहीं हैं, आपके चित्त की स्थिति विचारणीय है।
चित्त की स्थिति विचारणीय है और इसी सिलसिले में एक प्रश्न और आपने पूछा है कि पुण्य कर्मों के फल से संपत्ति मिलती है। यह बिल्कुल झूठ है, यह बिल्कुल असत्य है। पुण्य कर्मों के फल से संपत्ति नहीं मिलती। पुण्य

कर्मों के फल का संपत्ति से कोई संबंध नहीं है। अगर मेरी बात आप समझे तो पहले तो मैंने ये कहा कि पुण्य कोई कर्म नहीं है चित्त की अवस्था है--पाप भी कोई कर्म नहीं है चित्त की अवस्था है, तो पाप की चित्त अवस्था से दुख की चित्त अवस्थाएं मिलेंगी। और पुण्य की चित्त अवस्था से, आनंद की चित्त अवस्थाएं मिलेंगी। संपत्ति से कोई वास्ता नहीं।
यह हो सकता है एक दरिद्र जिसके पास बिल्कुल संपत्ति नहीं है--आनंद में हो, और यह हो सकता है, और रोज हो रहा है, जिसके पास बहुत संपत्ति है--वह बिल्कुल नरक में हो। जो संपत्ति को तौलेंगे, वे संपत्तिशाली को कहेंगे कि इसे पुण्य कर्म का फल मिला। मैं चित्त की अवस्थाएं तौलता हूं, तो मैं कहूंगा कि वे जो दरिद्र हैं, उनको पुण्य का फल मिला।
संपत्ति आपके पुण्य और पाप से नहीं मिलती, संपत्ति समाज की व्यवस्था
से मिलती है।
सोवियत रूस में बीस करोड़ लोग हैं, उन्होंने संपत्ति बांट ली, तो उन्होंने पाप और पुण्य कर्म क्या समान कर लिए? बीस करोड़ लोगों ने संपत्ति बांट ली आपस में, अब आप के जैसा करोड़पति वहां नहीं है और आप के जैसा भिखमंगा वहां नहीं है। तो क्या वहां ऐसा बीस करोड़ लोग में एक भी आदमी नहीं है, जिसके कर्म में भिखमंगा होना बदा हो, तो सोचने जैसी बात है कि बीस करोड़ लोगों में एक भी आदमी ऐसा नहीं है जिसके कर्म में भिखमंगा होना बदा हो और एक भी आदमी ऐसा नहीं जिसके कर्म में संपत्तिशाली होना बदा हो। पहले राजा भी कर्म से हुआ करते थे। अब बेचारों का कोई पता नहीं सारी जमीन पर, शायद अब कोई ऐसे कर्म नहीं करता कि राजा हो। थोड़े दिनों में सारी दुनिया में समाजवाद होगा सारी जगह संपत्ति वितरित हो जाएगी। तो फिर कोई ऐसे कर्म नहीं करेगा कि कोई भिखमंगा हो। यह संपत्तिशाली ने अपने शोषण को छिपाने का उपाय निकाला है कि वह कहता है कि मेरे पुण्य का फल है। यह पुण्य का फल नहीं है, यह प्रत्यक्ष रोज जो शोषण कर रहा है, उसका फल है। संपत्ति पुण्य से नहीं मिलती, शोषण से मिलती है और यह हो सकता है, इस शोषण में जो ऊपर हों वह बुरे लोग हों--बजाय उनके कि जो शोषण में नीचे हैं और शोषित हुए हैं।
लेकिन सारी धार्मिक परंपराएं--साधु, संन्यासी और पंडित, धनपति से पलते और पुसते हैं। वे सब धनपति के नीचे जीते हैं और पोषण पाते हैं। अब तक दुनिया के सारे धर्मों की जो परंपराएं हैं, वे नहीं जिन्होंने परंपराओं को शुरू किया, बल्कि जो परंपराएं हैं, जो संस्थाएं हैं, जो व्यक्ति हैं, जो पुरोहित हैं, जो वर्ग पैदा हुआ है उसका शोषण का लाभ उठाने को वे सबके सब संपत्तिशाली से पलता और पुसता है। इसलिए वे संपत्तिशाली के हमेशा समर्थन में हैं। और एक तरकीब ईजाद की गई कि वे ये कहे कि संपत्ति गरीब को इसलिए नहीं मिली की उसने पिछले जन्म में पाप किए हैं। और संपत्ति धनपति को इसलिए मिली कि उसने पीछे पुण्य किए हैं। और इस भांति जो संघर्ष संभावित है, संपत्तिशाली के विरोध में गरीब का, उसको रोकने में उपयोग करे। और जो संभव है कि गरीब टूट पड़े अमीर पर, उसे रोकने में उपयोग करे इस विचार का। यही वजह थी कि कार्लमार्क्स ने यह कहा कि सब धर्म अफीम का नशा है और संपत्तिशालियों के पक्ष में है, इस वजह से उसने यह कहा।
यह गरीब के लिए अफीम का नशा है, उसको सुलाता है और उससे कहता है, तुम्हारे पाप का फल है और अमीर को यह मौका देता है कि तेरे पुण्य का फल है। यह बात बिल्कुल झूठी है। और आज नहीं कल साफ हो जाएगा, अब साफ हो गया काफी कि दुनिया में संपत्ति कर्म से नहीं बंटेगी, अब समाज की व्यवस्था से बंटेगी। अभी भी समाज की व्यवस्था से ही बंटी हुई है। तो फिर कर्म से क्या बंटेगा। मेरा मानना है, कर्म से चित्त की स्थितियां मिलती हैं। सोवियत रूस में बीस करोड़ लोगों की संपत्ति बराबर कर दी। लेकिन चित्त की स्थितियां बराबर नहीं की हैं और न कभी की जा सकती हैं। उन बीस करोड़ लोगों में सभी लोग समान सुखी नहीं हैं, समान संपत्ति दी जा सकती है, समान मकान दिए जा सकते हैं, समान शिक्षा दी जा सकती है, समान वस्त्र दिए जा सकते हैं, सब समान दिया जा सकता है। लेकिन चित्त की समान स्थिति नहीं दी जा सकती है। वहां दुख और सुख के भेद होंगे, वहां शांति और अशांति के भेद होंगे, वहां क्रोध और अक्रोध के

भेद होंगे। जो पाप की चित्त स्थिति में कर्म करेगा, स्वाभाविक है कि वह पाप की चित्त स्थिति को प्रगाढ़ करेगा। और आने वाले जन्मों में उसे जो चित्त मिलेगा, वह और भी मूर्च्छित चित्त होगा और भी दुखी चित्त होगा जो जागरूक चित्त से कर्म करेगा, वह जागरूकता के प्रति और प्रगाढ़ होगा। आने वाले जन्मों में, आने वाले दिनों में, उसे और भी जागरूक चित्त मिलेगा, जो कि और ज्यादा आनंद और शांति के निकट उसे ले जाएगा। तो आपके भीतर की शांति और सुख--शांति और आनंद आपके कर्मों के फल होते हैं, आपके बाहर की संपत्ति और सुविधा आपके कर्मों के फल नहीं होते हैं। मेरी धारणा--मैं आपको कह रहा हूं जो आपके पास है, वह आपके कर्मों का फल नहीं है। जो आप हो, वह आपके कर्मों का फल है। इसे मैं फिर दोहराऊं, जो आपके पास है, वह आपके कर्मों का फल नहीं है। जो आप हो--वह आपके कर्मों का फल है।
यह जो पूछा है, इसलिए स्वाभाविक है अनेक बार पापी के पास धन देखा जाता है, पुण्य आत्मा के पास धन नहीं देखा जाता तो हमको बड़ी मुश्किल होती है, ये समझाने में कि कैसे इस बात को समझाए, तो फिर बड़ी झूठी दलीलें उसके लिए इकट्ठी की जाती हैं। जब कि सच्चाई कुल इतनी है कि धन से कोई संबंध पाप का और पुण्य का नहीं है, कोई दूर का भी संबंध नहीं है। आपके आंतरिक चित्त-स्थितियों का संबंध है। फिर एक और मजे की बात है कि यह इतनी ज्यादा सेल्फ कंट्राडिक्ट्री, इतनी स्व-विरोधी बात प्रचलित रही है कि हम यह कहते हैं कि पुण्य का फल तो धन है, लेकिन जब कोई आदमी धन का त्याग करता है तो इस कर्म को भी हम पुण्य कहते हैं। महावीर ने सारे धन का त्याग किया तो हम कहते हैं, यह बड़ा पुण्य कर्म है। यह बड़ी हैरानी की बात है कि पुण्य का फल भी धन मिलता है और धन का त्याग भी पुण्य कहलाता है। अगर पुण्य का फल धन होता हो तो धन के त्याग की चित्त-स्थिति किसी पाप का परिणाम होना चाहिए। यानी किसी को ये ख्याल उठे कि हम धन छोड़ दें, तो जरूर किसी पाप के किसी कर्म का कारण होना चाहिए कि धन छोड़ने का भाव पैदा हो रहा है उसे, धन जो कि पुण्य का फल है--अगर धन का उपलब्ध होना पुण्य का फल है तो धन का छोड़ना कैसे पुण्य हो जाएगा। लेकिन धन को छोड़ने को हम पुण्य मानते हैं और मैं भी मानता हूं, इसलिए नहीं कि वह कर्म पुण्य है बल्कि इसलिए कि धन को पकड़ना तो मूर्च्छा में होता है, धन को छोड़ना जागृति में होता है।
धन को पकड़ना तो बिल्कुल मूर्च्छित अवस्था है, कोई भी पकड़ता है। लेकिन
जो परिपूर्ण जागरूक है, वही केवल धन को छोड़ सकता है। धन को पकड़ना हमारी मूर्च्छा का हिस्सा है। धन को छोड़ना, कोई मूर्च्छित हालत में धन नहीं छोड़ सकता। इसलिए धन को छोड़ना मेरे लिए पुण्य है। क्योंकि वह चित्त की अवस्था में तभी संभव होगा जब कि कोई परिपूर्ण जागरूक हो जाए। महावीर या बुद्ध जैसे लोग जिनके पास सब था, उसे छोड़ कर चले गए, तो आप सोचते हैं यह कोई सामान्य स्थिति में संभव है। यह परिपूर्ण जागरूक स्थिति चाहिए, इतनी जागरूक स्थिति चाहिए कि उन्हें वहां कोई सुख दिखाई ही नहीं दे रहा। जब बुद्ध गांव के बाहर निकलते थे जो आदमी उन्हें छोड़ने गांव के बाहर, उनके घोड़े का--जो उन्हें छोड़ने गया था, गांव के बाहर। उसने उनसे कहा कि इतनी धन संपत्ति को छोड़ कर आप जा रहे हैं। बुद्ध ने कहा मैं धन-संपत्ति को नहीं केवल विपत्ति को छोड़ कर जा रहा हूं। बुद्ध ने कहा, मेरे पीछे तुम्हें महल दिखाई पड़ता है, मुझे केवल अग्नि की लपटें दिखाई पड़ती हैं। हमें जहां महल दिखाई पड़ रहे हैं, वहां बुद्ध को अग्नि की लपटें दिखाई पड़ रही हैं। यह बहुत किसी परिपूर्ण जागरूकता में संभव होता है, जहां जीवन का सत्य जैसा है, वैसा दिखाई पड़ता है और तब उसके अनुकूल व्यवहार शुरू हो जाता है। तो आपको मैं पाप कर्म छोड़ने को नहीं कहता और पुण्य कर्म करने को नहीं कहता। मैं आपको कहता हूं कि अपने चित्त की मूर्च्छित अवस्था को छोड़ें और जागरूक अवस्था को पैदा करें। जितनी मूर्च्छा भीतर छूटती चली जाएगी उतने पाप कर्म छूटते चले जाएंगे, जितनी जागरूकता भीतर आएगी उतने पुण्य कर्म अपने आप घटित होने लगेंगे। अगर उसके पहले कोई मूर्च्छित अवस्था में पुण्य का कर्म करेगा, वह भी पाप ही होगा।

मूर्च्छित अवस्था में पुण्य असंभव है। कोई पुण्य संभव नहीं हो सकता
और जागरूक अवस्था में कोई पाप संभव नहीं है, कोई पाप संभव नहीं है। इसलिए पाप से पुण्य की तरफ नहीं जाना है। मूर्च्छा से अमूर्च्छा की तरफ जाना है। महावीर का एक प्रसिद्ध सूत्र है, जिसमें उन्होंने कहा, मूर्च्छा परिग्रहो। उनसे किसी ने पूछा कि परिग्रह क्या है? तो सामान्य साधु कहेगाः धन-संपत्ति परिग्रह है। महावीर ने कहाः मूर्च्छा परिग्रह है। मेरी पूरी चर्चा उस एक दो शब्दों में है--मूर्च्छा परिग्रह। कोई भी कहेगा, परिग्रह क्या है, तो कहेगाः धन है, मकान है, स्त्री है, पुत्र है, ये परिग्रह हैं। महावीर ने कहाः मूर्च्छा परिग्रह है। धन नहीं है परिग्रह--धन में मूर्च्छा। मकान नहीं है परिग्रह--मकान में मूर्च्छा। मकान में मूर्च्छा हो, तो मकान मेरा मकान हो जाता है। स्त्री में मूर्च्छा हो, तो वह मेरी स्त्री हो जाती है। धन में मूर्च्छा हो, तो वह मेरा धन हो जाता है। मूर्च्छा ममत्व को पैदा करती है। ममत्व बंधन हो जाता है। बंधन पाप है। अमूर्च्छा अममत्व को पैदा करती है, वैराग्य को पैदा करती है, अनासक्ति को पैदा करती है। अनासक्ति मुक्ति है। इसलिए मुक्ति पुण्य है।
तो मूल में अगर पकड़ लिया जाए भीतर, तो या तो मूर्च्छा पकड़ में आएगी और
या जागरण पकड़ में आएगा। तो मूर्च्छा पाप और अमूर्च्छा पुण्य है। फिर मूर्च्छा में जो भी हो वह सब पाप और अमूर्च्छा में जो भी हो वह सब पुण्य। इसलिए एक-एक कर्म पर फुटकर कर्मों पर कोई निर्णय नहीं लेता हूं कि वह पाप है या पुण्य--इकट्ठा निर्णय लेता हूं कि कर्म के करने वाला मूर्च्छित है या अमूर्च्छित है। सामान्य धारणा यह है कि एक आदमी पाप भी कर सकता है और पुण्य भी कर सकता है, मैं ऐसा नहीं मानता। जो पाप कर सकता है, पुण्य नहीं कर सकता और जो पुण्य कर सकता है, वह पाप नहीं कर सकता। मैं जो कह रहा हूं, आपको सामान्य धारणा हमारी यह है--एक आदमी पाप भी कर सकता है और वह पुण्य भी कर सकता है, कभी पुण्य भी कर सकता है, कभी पाप भी कर सकता है। मेरा मानना है, यह असंभव है। एक आदमी या तो पाप ही कर सकता है या पुण्य ही कर सकता है और अगर एक आदमी एक भी पुण्य किया--पाप करना असंभव हो जाएगा। मेरी धारणा आपकी समझ में आ गई, अगर वह पुण्य करेगा तो अमूर्च्छित हालत में करेगा और अमूर्च्छा अगर आ जाए, एक क्षण को भी आ जाए तो फिर उसे खोया नहीं जा सकता है।
ज्ञान के साथ एक ही खराबी है, उसे खोया नहीं जा सकता है। कोई भी ज्ञान
की किरण आपमें फूट जाए, उससे फिर आप वंचित नहीं हो सकते, उसे फिर भुलाया नहीं जा सकता, वह फिर आपका साथ हो जाएगी।
एक भारतीय साधु था, बोधिधर्म वह चीन गया, वहां एक बादशाह था वू, उसने बड़े मंदिर बनवाए, बड़ी मूर्तियां बनवाईं, बड़े शास्त्र छपवाए, उसने करोड़ों रुपये खर्च किए। जब बोधिधर्म गांव पर गया, चीन की सीमा उसने पार की तो वू ने उसका स्वागत किया। स्वागत करने के बाद, बड़ा विराट स्वागत किया। स्वागत करने के बाद उससे कान में पूछा पास जाकर कि मैंने इतना-इतना खर्च किया है-- इतने मंदिर बनवाए, इतनी मूर्तियां, इतने शास्त्र छपवाए, मुझे क्या फल होगा? स्वाभाविक था यह पूछ लेना, आप भी पूछना चाहेंगे कि मैंने इतने उपवास किए, क्या फल होगा?
मैं इतनी बार मंदिर गया वर्ष में, क्या फल होगा? मैंने इतनी बार गीता पढ़ी, क्या फल होगा? मैंने इतनी बार रामायण करवा दी है घर में तो क्या फल होगा? उसने भी पूछना चाहा कि मैंने इतना व्यय किया है, इसका क्या फल होगा? वह बोधिधर्म बोलाः कुछ भी नहीं। कोई फल नहीं होगा और उलटा पाप तुझे लगा, पाप तुझे इसलिए लगा कि तुझे यह अहंकार और उत्पन्न हुआ कि मैंने इतना किया, मैं करने वाला हूं, इतना मैंने किया यह दंभ और उत्पन्न हुआ। यह स्मरणीय है, मूर्च्छित कर्मों का अंतिम परिणाम अहंकार होता है। अमूर्च्छित कर्मों का अंतिम परिणाम निर-अहंकारिता होता है। मूर्च्छा में जो भी कर्म होंगे, उससे मैं मजबूत होता चला जाता है। अमूर्च्छा में जो कर्म होंगे उससे मैं पिघलता और विलीन होता चला जाता है। इस दृष्टि को अगर समझेंगे, विचार करेंगे तो और तरह से पूरी बात आपको सोचनी पड़ेगी। तब प्रश्न कर्मों का बिल्कुल नहीं, कर्त्ता का हो जाएगा। मेरे लिए प्रश्न कर्मों का बिल्कुल

नहीं, सच में हो भी नहीं सकता कर्मों का प्रश्न, विचारणीय मेरे कर्म नहीं हैं--मैं हूं। और अगर मैं गलत हूं तो मुझसे गलत कर्म निकलते हैं और अगर मैं ठीक हूं तो मुझसे ठीक कर्म निकलते हैं। अभी आमतौर से हम उस आदमी को तो छोड़ देते हैं विचार के बाहर, जिससे कर्म निकल रहे हैं और कर्मों का फुटकर विचार करते हैं कि कौन सा कर्म ठीक है और कौन सा गलत है। यह असंभव है कि जो आदमी वेश्यालय जाता है, वह मंदिर भी जा सके। मंदिर जा सकता है, कौन सी दिक्कत है लेकिन मैं कहता हूं, जो वेश्यालय जाता है वह मंदिर भी जा सके, ये असंभव है। और अगर वह मंदिर में भी जाएगा तो वैसा ही मूर्च्छित जाएगा। जैसे मूर्च्छित वेश्यालय की सीढ़ियां उसने पार की, ठीक वैसे ही मूर्च्छित मंदिर की सीढ़ियां पार करेगा। यह भी मैं मानता हूं कि जो मंदिर जा सकता है, वह वेश्यालय जाना असंभव है। हो सकता है वेश्यालय में चला जाए, लेकिन वह वैसे ही जाएगा जैसे मंदिर में गया था। वैसे ही निरविकार और वैसा ही शांत वेश्यालय में भी प्रवेश कर जाएगा। अगर मनुष्य भीतर ठीक हुआ है तो उससे गलत होना असंभव है क्योंकि जो भी कर्म निकलता है, वह मेरे भीतर से निकलता है। आकस्मिक, अनायास थोड़े ही है, कुछ भी एक्सीडेंटल थोड़े ही है, मुझसे निकल रहा है, मेरे भीतर से पैदा हो रहा है। एक गुलाब के पौधे पर गुलाब के फूल लग जाते हैं। चमेली के फूल कभी नहीं लगते। गुलाब के फूल आकस्मिक नहीं हैं, गुलाब के फूल के भीतर जो क्षमता है, वह बाहर फूलों में आ जाती है, गुलाब बन जाते हैं। आपके भीतर जो व्यक्ति है, वह आपके कर्मों में बाहर निकल आता है और प्रकट हो जाता है।
कर्म बिल्कुल विचारणीय नहीं व्यक्ति विचारणीय है। परिवर्तन कर्मों
का नहीं करना, व्यक्ति का करना है। यह मैं आपसे नहीं कहता, झूठ बोलना छोड़ दें। मैं आपसे नहीं कहता कि हिंसा करना छोड़ दें, मैं आपसे नहीं कहता कि चोरी करना छोड़ दें यह नासमझ कहते होंगे। यह मैं बिल्कुल नहीं कहता कि आप छोड़ दें, यह आप छोड़ ही कैसे सकते हैं। अभी जिस तरह के आदमी आप हैं, आप यही करेंगे। और अगर जबरदस्ती करके छोड़ा तो दूसरी तरफ से फिर यही करेंगे। आप बच नहीं सकते। आपसे फूल यही निकलेंगे जो आपसे निकल सकते हैं। मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप इनको छोड़ दें। मैं आपसे कहता हूं, आप दूसरे व्यक्ति हो जाएं। कर्म ना बदलें भीतर जो व्यक्ति चैतन्य है उसको बदलें, वह अगर बदल गया तो फूल दूसरे आने शुरू हो जाएंगे। बिल्कुल बात उलटी हो गई। मेरे हिसाब से सामान्यतया सोचा जाता है, जो पुण्य कर्म करेगा, उसका व्यक्तित्व बदल जाएगा। और मैं कहता हूं जिसका व्यक्तित्व बदल जाएगा, उसके कर्म बदल जाएंगे। कर्मों से व्यक्तित्व परिवर्तित नहीं होता, व्यक्ति के परिवर्तन से कर्म परिवर्तित हो जाता है। दूसरी तरह के प्रश्न यह थे।

और तीसरी तरह के दो प्रश्न हैं। वह यह कि पूछा है कि मैंने जो चर्चा
की है धर्म की वह व्यक्ति-केंद्रित मालूम होता है। अब भी चर्चा कर रहा हूं वह भी व्यक्ति-केंद्रित है। तो पूछा है कि समाज का क्या होगा?

अगर धर्म व्यक्ति केंद्रित है और व्यक्ति ही के लिए सब धर्म हैं। तो फिर समाज का क्या होगा? यह प्रश्न बड़ा संगत मालूम पड़ता है। अगर धर्म सब व्यक्ति केंद्रित है और व्यक्ति की ही चिंता है और सब को अपनी-अपनी फिकर करनी है तो फिर सब का क्या होगा। फिर समाज का क्या होगा लेकिन एक बात हम भूल जाते हैं, समाज है कहां--कभी समाज से आपका मिलना हुआ। कभी समाज से कोई साक्षात्कार हुआ कभी समाज से कोई मुलाकात हुई, आज तक समाज तो कभी मिलना हुआ नहीं। समाज को खोज कर भी कहीं आप पकड़ नहीं पा सकेंगे। जब भी पकड़ में आएगा व्यक्ति पकड़ में आएगा, जब भी मुलाकात होगी, व्यक्ति से मुलाकात होगी। समाज कहीं है नहीं, समाज केवल शब्द है, समाज केवल एक संज्ञा है। व्यक्ति है, व्यक्तियों के अंतर-संबंधों का नाम, इंटर रिलेशनशिप का नाम समाज है। समाज कोई चीज नहीं है, समाज हमारे संबंधों का इकट्ठा नाम है। हम यहां इतने लोग बैठे हैं, सब एक दूसरे से संबंधित हैं तो एक समाज बन जाएगा। हमारे सारे संबंधों के इकट्ठे जोड़ का नाम समाज है। वह जो हमारी रिलेशनशिप है एक

दूसरे से, वह जो इंटर रिलेशनशिप है। उसी का नाम समाज है। समाज कोई है नहीं, समाज व्यक्तियों के जोड़ का नाम है। व्यक्ति जैसे होते हैं, अंतिम जोड़ का फल वैसा हो जाता है। व्यक्ति जैसे होते हैं--समाज वैसा हो जाता है। परिवर्तन व्यक्ति में अगर हो तो समाज परिवर्तित हो जाएगा। अगर मूर्च्छित लोग हैं तो समाज मूर्च्छित होगा और मूर्च्छा कई गुणी हो जाएगी। दस मूर्च्छित लोग हैं तो दस गुणी ही मूर्च्छा नहीं होगी। सैकड़ों गुणी हो जाएगी, क्योंकि दस लोगों के मूर्च्छित कर्म आपस में मिल कर इतना संघर्ष, इतना उपद्रव पैदा करेंगे कि इकट्ठा परिणाम दस से बहुत ज्यादा होगा। यानी जोड़ ना होगा गुणन फल होगा। दुनिया में इस समय तीन अरब लोग हैं। अगर ये तीन अरब लोग मूर्च्छित हैं तो तीन अरब लोगों के मूर्च्छित कर्म मिला कर जो रूप उपस्थित कर रहे हैं, वह हमारे सामने हैं। अगर व्यक्ति अमूर्च्छित होंगे, तो समाज का एक अमूर्च्छित रूप प्रकट होगा। धर्म का जोर व्यक्ति पर है, क्योंकि व्यक्ति ही सत्य है और समाज व्यक्ति का ही फल है। जैसा व्यक्ति, वैसा समाज होगा। तो जब हम यह कहते हैं अपनी फिकर करो, अगर आपने अपनी फिकर की तो सबकी फिकर अपने आप हो जाएगी। और अगर आपने सबकी फिकर की और अपनी फिकर नहीं की तो किसी की फिकर नहीं होगी। क्योंकि सब तो कहीं है ही नहीं। जो समाज की फिकर कर रहा है और अपनी फिकर नहीं कर रहा है, वह अपनी तो कर ही नहीं रहा, वह किसी की भी नहीं कर रहा।
समाज की फिकर एक मिथ, एक कल्पना, एक झूठी बात, एक कहानी है, अपनी फिकर
एक वास्तविक तथ्य है। दिख सकता है कि अपनी फिकर करना बड़ी स्वार्थ की बात है। लेकिन हम यहां बीस लोग बैठे हैं। अगर हम बीस ही लोग अपनी फिकर कर लें तो बीस लोगों से मिल कर जो समाज बनता है। उसकी फिकर पूरी हो जाएगी। और अगर हम बीस ही लोग अपने को छोड़ कर बाकी उन्नीस की फिकर करें, ऐसा बीस ही लोग करें कि अपनी फिकर छोड़ दें बाकी उन्नीस की फिकर करें तो इस कमरे में फिकर तो बहुत होंगी, परिणाम कुछ भी नहीं होगा। परिणाम इसलिए कुछ नहीं हो सकता कि मैं अपने जीवन में तो कोई परिवर्तन कर सकता हूं, दूसरे के जीवन में क्या परिवर्तन कर सकता हूं। मैं दूसरे पर आरोपित कर सकता हूं जबरदस्ती। जब कि वह दूसरा भी दूसरे पर आरोपित करने में लगा होगा। जीवन-क्रांति का बुनियादी सूत्र, अपने में परिवर्तन करना है। दूसरे में परिवर्तन करना नहीं। यह मैं... थोड़ा आगे हटे--देखिए अब आप एक-एक आगे सरक रहा है तो पूरे हम सरक गए। और अगर सारे लोग ये सोचे कि बाकी लोग सरक जाएं और हर आदमी यह सोचे कि मैं क्यों सरकूं, यह तो बड़ा स्वार्थ होगा। दूसरे लोगों को सरकाऊं तो यहां कलह तो हो सकती है, सरकना नहीं हो सकता। आप सरकते हैं--सब सरक गए। समाज सरक गया। आप सरक गए सब सरक गए। सूत्र बुनियादी परिवर्तन का अपने से शुरू होता है। और समाज के परिवर्तन की जो चिंता है वह परिणामदायी नहीं है। तो धर्म निश्चित वैयक्तिक है, समाज से उसका कोई भी वास्ता नहीं। इसलिए वास्ता नहीं कि समाज तो है ही नहीं, व्यक्ति हैं। वे ठोस इकाइयां हैं। उनमें कोई परिवर्तन हो, वह परिवर्तन सब पर फलित होगा।
इसी संदर्भ में एक और प्रश्न पूछा हुआ है।

पूछा है कि अगर सारे व्यक्ति अपने-अपने उत्कर्ष में लग जाएं, तो राष्ट्र का क्या होगा? राष्ट्र का उत्कर्ष करना है। और सारे व्यक्ति अगर अपनी-अपनी आत्म-साधना में लग जाएं, तो राष्ट्र का क्या होगा?

जैसे कि शांति उत्कर्ष की विरोधी है। जैसे की व्यक्तियों का अपना आत्मिक जीवन को उपलब्ध कर लेना राष्ट्र की उन्नति में बाधक है। प्रश्न इस भांति से यह ख्याल देता है और यह उनका प्रश्न नहीं, बहुत लोगों का प्रश्न है पूरे मुल्क में, यह डर है कि अगर व्यक्ति शांत हो जाए, आत्मा को उपलब्ध हो जाए तो शायद संसार के लिए निरुपयोगी हो जाएगा। इससे ज्यादा और गलत कोई बात नहीं हो सकती। अशांत आदमी तो विकास में सहायक है और शांत आदमी बाधक हो जाएगा, यह बड़ी अजीब बात है! अगर पागलों से यह पूछा जाए कि आप सब स्वस्थ हो जाएं और वे यह कहने लगें, सब स्वस्थ हो जाएंगे तो राष्ट्र का क्या होगा?

पागल अगर यह कहें कि सब स्वस्थ हो जाएंगे तो फिर राष्ट्र का क्या होगा, तो उनका प्रश्न जितना संगत होगा, उतना ही प्रश्न यह भी संगत है। मैं तो यह कह रहा हूं कि जब आप भीतर शांत होते हैं तो आपकी शांति किसी के भी जीवन में, किसी के भी विकास में बाधा नहीं हो सकती। बल्कि प्रत्येक के विकास में सहयोगी हो जाएगी। उसके कारण हैं। अशांति अनिवार्य रूप से दूसरों के जीवन में बाधा उत्पन्न करती है। अशांत आदमी को बाधा उत्पन्न करने में सुख मिलता है। शांत व्यक्ति अनिवार्यतया दूसरों के जीवन में बाधा तो उत्पन्न करता ही नहीं। लेकिन शांति के कारण उसमें करुणा पैदा होनी शुरू हो जाती है। अशांति के कारण हिंसा पैदा होती है; शांति के कारण करुणा पैदा होती है। उससे जितना बन पड़े वह सहयोगी हो जाता है।
अगर आत्मिक रूप से सारे लोग अपने भीतर जीवन में उतर रहे हों, तो राष्ट्र का या समाज का कोई अहित होने को नहीं है। फिर हमको एक और ख्याल बैठा हुआ है। और वह ख्याल संन्यासियों की परंपरा जो सारी दुनिया में पिछले दिनों चली है, उसकी वजह से बैठ गया। हम को ख्याल बैठा हुआ हैः जो व्यक्ति भी आत्म-साधना में लगेगा वह संसार के प्रति विमुख हो जाएगा, वह संसार छोड़ कर भाग जाएगा। यह बात बिल्कुल ही गलत है। यह हो सकता है कि शांति की साधना के समय थोड़े दिन उसे संसार की तरफ पीठ कर लेनी पड़े, लेकिन जैसे ही वह शांति को उपलब्ध होगा, संसार की तरफ वापस उसका मुंह हो जाएगा।
हमने महावीर को घर छोड़ कर जंगल तो जाते देखा। हमने यह ख्याल नहीं किया
कि फिर बारह वर्ष के बाद जंगल छोड़ कर वापस बस्ती में कैसे आ गए? महावीर को हमने राज-पाठ छोड़ कर जाते हुए देखा है, पर हम यह बात भूल जाते हैं जो कि उनकी जिंदगी का दूसरा और ज्यादा महत्वपूर्ण हिस्सा है कि वे वापस फिर वन को छोड़ कर लोगों के बीच कैसे आ गए? जिस संसार की तरफ एक दिन पीठ की थी, उसकी तरफ वापस मुंह कैसे हो गया?
यह संभव है कि आप शांति की साधना करें, थोड़ा आपको उदासीन होना पड़े। थोड़ा आपको घंटे, दो घंटे चौबीस घंटे में से अलग हो जाना पड़े। लेकिन शांति की उपलब्धि पर यह संभव नहीं है कि आपको अलग हो जाना पड़े। तब तो आप बिल्कुल बीच में हो जा सकते हैं। शांत आदमी को डर नहीं होगा, अशांत को डर हो सकता है। शांत व्यक्ति जितनी सक्रियता में उतर सकता है, अशांत कभी नहीं उतर सकता। क्योंकि अशांत के भीतर इतनी सक्रियता होती है कि बाहर वह सक्रिय नहीं हो पाता। शांत के भीतर कोई सक्रियता नहीं होगी। बाहर उसका जीवन अनंत कर्म का जीवन हो सकता है।
संन्यास संसार का विरोधी नहीं है, बल्कि मेरे हिसाब में तो संन्यास
को जो उपलब्ध करता है, वही व्यक्ति पूरे संसार के लिए उपयोगी हो जाता है। यानि गृहस्थ मैं उसको कहूंगा जो थोड़े लोगों के लिए उपयोगी है। संन्यस्त में उसे कहूंगा जो सबके लिए उपयोगी है। संन्यास का कोई विरोध नहीं है, आत्म-साधना का कोई विरोध नहीं है। आप अपने को साधते हैं, इससे कोई जगत में विरोध नहीं पैदा होता। और दूसरी बात आपको कह दूं। यह जो ख्याल पैदा हुआ है कि जैसे अगर मैं किसी को कहूं कि आप स्वास्थ्य के लिए थोड़ा व्यायाम करो, तो वह यह कहने लगे कि अगर सब लोग ऐसा व्यायाम करने लगें, तो फिर राष्ट्र का क्या होगा? उसको ख्याल ऐसा पैदा होता है, जैसे चौबीस घंटे वह व्यायाम ही करेगा। बात ठीक है कि अगर चौबीस घंटे ही वह व्यायाम करे, तो राष्ट्र बड़ी दिक्कत में पड़ जाएगा। अगर सारे लोग चौबीस घंटे व्यायाम करें, तो राष्ट्र बड़ी दिक्कत में जरूर पड़ जाएगा। लेकिन व्यायाम चौबीस घंटे नहीं किया जाता। अगर मरना हो तो बात दूसरी है। जीना हो तो व्यायाम चौबीस घंटे नहीं किया जाता। जीने के लिए थोड़ा सा व्यायाम काफी है। व्यायाम आधे घंटे होगा, लेकिन स्वास्थ्य के परिणाम चौबीस घंटे हो जाते हैं।
तो आध्यात्मिक साधना कोई चौबीस घंटे नहीं करनी होती। कोई साधना चौबीस घंटे नहीं करनी होती। साधना तो अल्प समय में ही करनी होती है। उसके परिणाम चौबीस घंटे पर हो जाते हैं। अगर आप आधा घंटे भी परिपूर्ण शांत होने का प्रयोग करते हैं। तो आप पाएंगे कि चौबीस घंटे पर अपने आप एक शांति परिव्याप्त हो गई है। आपको चौबीस घंटे कोई शांत होने के लिए थोड़े ही उपाय

करना होगा। अगर आधा घंटे को आप प्रकाशित होने का उपाय करते हैं तो आप पाएंगे कि चौबीस घंटे पर एक प्रकाश की धीमी धारा व्याप्त हो गई है। कोई चौबीस घंटे मंदिर में थोड़े ही बैठे रहना होगा। अगर आप आधा घंटा मंदिर में सच में बैठे हैं तो आप पाएंगे कि आपके चौबीस घंटे में आप जहां भी प्रवेश करते हैं, वहां मंदिर मौजूद है किसी न किसी रूप में। यानी दुकान छोड़ कर मंदिर में नहीं बैठना होगा, मंदिर में थोड़ी देर बैठे तो मंदिर ही दुकान में उपस्थित हो जाएगा। तो, तो साधना वास्तविक है और अगर दुकान का इतना डर हो कि जब मंदिर में ही बैठे रहें तभी दुकान से दूर रहते हैं तो फिर बात अलग है--तो साधना जरूर, जरूर अर्थ की नहीं होती, तो जरूर यह खतरा हो सकता है कि सभी लोग मंदिर में बैठे तो दुकानों और मकानों का क्या होगा।
आध्यात्मिक जीवन की साधना कोई चौबीस घंटे का काम नहीं है। थोड़ी देर
उस तरफ अपने में प्रयास करने हैं। थोड़ी देर उस सुराग को खोदना है और चौबीस घंटे जो सामान्य आपके जीवन में चलता है, उसे चलने देना है। लेकिन वह सुराग अगर ठीक से फूटा तो आपके चौबीस घंटे के जीवन में परिवर्तन शुरू हो जाएंगे। आपके बिना जाने एक आदमी बीज बो देता है, अपने बगीचे में तो कोई चौबीस घंटे बीज के पास थोड़े बैठा रहता है। एक आधा घंटा उसकी देखभाल कर लेता है। फिकर कर लेता है कि जानवर उसे चर तो नहीं जाते हैं। बागुड़ लगा देता है। आधा घंटा सुबह उसकी फिकर कर लेता है, कोई चौबीस घंटे उसके पास बैठ कर उस पौधे को बढ़ाना थोड़ी पड़ता है। आधे घंटे की फिकर, लेकिन पौधे में बढ़ना शुरू हो जाता है। एक दिन पौधा वृक्ष हो जाता है और फूल से भर जाता है। अब कोई यह कहने लगे कि हम कैसे पौधा लगाएं, हमको दूसरे काम भी करने हैं! हम उसको कहेंगे आप ना समझी की बातें कर रहे हैं। पौधा आपके किसी काम में विरोध नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के बीज डालना कोई चौबीस घंटे का काम नहीं है। उसे डालें--आधा घंटा, घंटा उसकी फिकर करें। आपके चौबीस घंटे के जीवन में क्रमशः परिवर्तन आना शुरू होगा। और एक दिन आप पाएंगे कि चौबीस घंटे में वह परिव्याप्त हो गया है और आपको उसके लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ रही है। यानि आपकी दूसरी चेष्टाओं से धर्म का कोई विरोध नहीं है। धर्म की साधना अपने आप में प्रतियोगी नहीं है आपकी किसी चेष्टा से--आप दुकान करते हैं, आप नौकरी करते हैं, आप कुछ और करते हैं। धार्मिक साधना आपके करने से विरोधी नहीं है। इसलिए विरोधी नहीं है कि धार्मिक साधना कोई सांसारिक काम नहीं है जिसके और सांसारिक कामों से प्रतियोगिता और काम्पिटीशन हो। इसे आप जरा ठीक से समझ लेना। काम्पिटीशन और प्रतियोगिता उन चीजों में होती है, जो एक ही तल की होतीं हैं। एक आदमी एक दुकान कर रहा है। उसकी सामर्थ्य इतनी है कि एक दुकान कर सके और आप उससे कहें कि दूसरी और खोल लो, तो वह कहेगा यह तो बड़ा मुश्किल होगा। हम दूसरी खोल लेंगे तो इसकी कौन फिकर करे। दो दुकानों में विरोध हो सकता है, दो कामों में विरोध हो सकता है--धर्म कोई काम नहीं है। धर्म विश्राम है। आपके किसी काम से उसका विरोध नहीं है न कोई प्रतियोगिता है। आपके सारे काम चलते हुए, वह बिल्कुल ही अलग तरह की बात है। जिसका किसी से कोई विरोध नहीं कोई मतलब नहीं। इसे थोड़ा समझें, आपके सब काम दूसरों से संबंधित हैं। यह काम ऐसा है जिसका दूसरों से कोई संबंध नहीं।
आपके सब काम दूसरों से संबंधित हैं। यह ऐसा काम है जिसका दूसरों से
कोई संबंध नहीं है। इसका अपने से संबंध है। आपकी एक पत्नी है और आप दो पत्नियां और ले आएं तो उपद्रव है। क्योंकि वही संबंध दो स्त्रियों से और होगा। और संघर्ष शुरू होगा। लेकिन आपकी एक पत्नी है और आप अपने से संबंधित होना शुरू हो जाएं, तो कोई विरोध नहीं होने वाला। क्योंकि यह कोई संबंध नहीं है किसी और से, इसका किसी और से प्रतियोगिता नहीं है। अपने से संबंधित होने में किसी संबंध का कोई विरोध नहीं है। यह मामला ही बहुत भिन्न और अलग है। मैंने कहा, सारे तो काम हैं, यह विश्राम है। और सारे दूसरों से संबंध हैं, यह अपने से संबंध हैं। और सारी क्रियाएं बाहर जाती हैं, यह क्रिया बाहर नहीं जाती, यह भीतर जाती है। आपके इससे कोई विरोध नहीं है, कोई भी विरोध नहीं है। इससे जीवन की किसी धारा में कोई विरोध पैदा नहीं

होगा। बल्कि जब यह आंतरिक शांति उत्पन्न होने लगेगी तो जीवन की सारी धाराएं समृद्ध हो जाएंगी।
अगर आप धर्म को उपलब्ध हुए, तो लोग सोचते हैं कि सारा प्रेम छूट जाएगा। मैं ऐसा नहीं सोचता, मैं यह सोचता हूं, पहली दफा प्रेम उत्पन्न होगा। आप जिस मोह को प्रेम समझें हैं। वह प्रेम नहीं है। मोह तो छूट जाएगा। प्रेम पहली दफा उत्पन्न होगा। आप सोचते हैं सारे लोगों से संबंध टूट जाएंगे। और मैं आपको कहूंगा अभी तो आपका किसी से कोई संबंध नहीं है। पहली दफा आप संबंधित होंगे। पहली दफा रिलेशनशिप पैदा होगी। अभी तो कोई रिलेशनशिप नहीं है। अभी तो अपना-अपना स्वार्थ है। किसी को किसी से कोई मतलब नहीं है, किसी से किसी का कोई संबंध नहीं है। और अभी जिसको हम प्रेम समझ रहे हैं, वह केवल मोह है। मोह भी ऐसा है कि वह भी बुनियाद में स्वार्थ है। तब वास्तविक प्रेम उत्पन्न होगा। धर्म आपसे कुछ भी छीनेगा नहीं। जो- जो व्यर्थ है उसे अलग कर देगा। जो-जो सार्थक है, उसे वापस आपको दे देगा। इसलिए धर्म से कोई आदमी रंक और भिखारी नहीं बनेगा। समृद्ध हो जाएगा। तो मैं कोई विरोध नहीं देखता संसार में और धर्म में, आत्म-साधना में और किसी तरह के किसी विकास में कोई विरोध नहीं है।

प्रश्नः आंतरिक आनंद की स्थितियां क्या हैं?

आप पूछ रहे हैंः "आंतरिक आनंद की स्थितियां, यानी कि क्या हैं?"
अभी हम दो तरह की स्थितियां जानते हैं। एक तो दुख की स्थिति है और एक सुख की स्थिति है। इनको बताने की किसी को कोई जरूरत नहीं है। दुख की स्थिति वह है जिसमें से हम बाहर होना चाहते है। जिसके भीतर हम जरा भी नहीं रुकना चाहते। और सुख की स्थिति वह है जिसके भीतर ही हम रुके रहना चाहते हैं और डरे रहते हैं कि कहीं बाहर न हो जाएं। दुख में एक तनाव होता है कि बाहर हो जाएं और सुख में एक तनाव होता है कि कहीं बाहर ना हो जाएं। जरा बात समझ रहे है। दुख में एक इच्छा होती है कि फौरन बाहर हो जाएं। सुख में एक इच्छा होती है कि कहीं बाहर न हो जाएं। दुख से हटना चाहते हैं, सुख को पकड़ कर रखना चाहते हैं। आनंद की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। आनंद की स्थिति, इन दोनों से भिन्न है। एक ऐसी चेतना की स्थिति जिससे न तो आप बाहर होना चाहते हैं और न आप इतने भयातुर होते हैं कि कहीं वह छूट न जाए, न इससे घबड़ाए हुए होते हैं। आनंद की वह टेंशनलेस जैसी स्थिति है, जहां न छूटने का डर होता है और न छोड़ने की इच्छा होती है। यानी मेरा मतलब यह हुआ कि दो तरह के टेंशन हैं दुनिया में--एक दुख का और एक सुख का। दो तरह की उत्तेजना हैं दुनिया में एक सुख की और दुख की। दुख की उत्तेजना अप्रीतिकर है, सुख की उत्तेजना प्रीतिकर है। दुख की उत्तेजना के पीछे आकांक्षा होती है कि सुख की उत्तेजना मिल जाए। सुख की उत्तेजना के पीछे भय होता है कि कहीं दुख की उत्तेजना न आ जाए। मेरा मतलब हुआ कि दुख के बीच सुख की धारणा उपस्थित रहती है। सुख के बीच दुख की धारणा उपस्थित रहती है। यह एक ही पहलू एक ही सिक्के के दो हिस्से है। एक उपस्थित रहता है दूसरा अनुपस्थित रहता है, ऐसा मत सोचना।
दूसरा नीचे रहता है, मौजूद रहता है। जब दुख में आप होते हैं तो आकांक्षा के रूप में सुख मौजूद रहता है। और जब आप सुख में होते हैं तो भय के रूप में दुख मौजूद होता है। सुख-दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ऐसी चेतना की स्थिति है, जहां न सुख है और न दुख है। जहां दोनों ही तनाव नहीं हैं, उसका नाम आनंद है। आनंद सुख का पर्यायवाची नहीं है। सुख-दुख का जहां अभाव है। उस स्थिति का नाम आनंद है। दुख के अभाव का नाम सुख है। सुख के अभाव का नाम दुख है। सुख-दुख दोनों के अभाव का नाम आनंद है। इसका क्या रूप हुआ अनुत्तेजना। कोई उत्तेजना जहां नहीं है। न कुछ पाने की, न कहीं जाने की। न किसी से हटने की, न कहीं पहुंचने की। जहां कोई उत्तेजना नहीं है। उस परिपूर्ण शांति का नाम आनंद है। शांति और आनंद पर्यायवाची हैं। एक ही अर्थ रखते हैं उत्तेजना शून्य चित्त की स्थिति का नाम आनंद है।

उत्तेजना का नाम दुख और सुख है। इसलिए यह संभव है कि सुख की उत्तेजना अगर ज्यादा बढ़ जाए तो दुख में परिणित हो जाती है। सुख की उत्तेजना अगर ज्यादा हो जाए दुख में परिणित हो जाती है। वे दोनों उत्तेजनाएं हैं। दोनों ही उत्तेजनाएं हैं। आनंद अनुत्तेजित स्थिति है। चित्त की टेंस स्थिति का नाम या तो सुख होगा या दुख होगा। अगर प्रीतिकर है तो सुख, अगर अप्रीतिकर है तो दुख। चित्त की नॉन-टेंस स्थिति का नाम, जब चित्त बिल्कुल तना हुआ नहीं है--उस स्थिति का नाम आनंद है। उसी आनंद को पाने के लिए सारे धर्मों के उपाय हैं।

प्रश्नः जब हम सोए हैं तो बात कहते हैं कि हम खूब सोए हैं। सोने का जो मालूम हुआ, वह किसको हुआ?

मनुष्य जो है वह एक ईकाई नहीं है। उसका बीइंग जो है वह यूनिटरी नहीं है। उसका जो व्यक्तित्व है, वह दोहरा है। उसमें द्वैत है। एक तो उसका शरीर है जो पदार्थ से बना है। और उसका चेतन है जो आत्मा से बना है। तो मनुष्य के भीतर दो तल हैं, या दो व्यक्तित्व हैं। एक पदार्थ का व्यक्तित्व है, एक चैतन्य का व्यक्तित्व है। तो जब हम कहते हैं कि हम, तो "हम" शब्द बड़ा गलत है। यह एक की सूचना नहीं देता, यह दो की सूचना देता है। जब हम कहते हैंः मैं, तो यह दो की सूचना देता है। जब मैं कहता हूं कि मैं रात सोया, तो यह बात सच है कि मेरा एक हिस्सा जो पदार्थ से बना है, रात सोया हुआ था। और यह भी बात सच है कि मेरा एक हिस्सा जो कि चेतन से बना हुआ है, वह रात जागा हुआ था-- और जानता था कि सो रहा है कोई। उन मेरे मैं के दो हिस्से हैं, दो पार्ट हैंः एक मेरा शरीर है और एक तो मेरी चेतना। मेरी चेतना कभी नहीं सोती। सोने का प्रश्न नहीं है, वह जानती है कौन सोया है। मेरा शरीर सोता है, वह यंत्र है, थकता है और विश्राम चाहता है। वापस शक्ति पाने के लिए उसे विश्राम देना होता है। शरीर सो जाता है, आप कभी नहीं सोते। जो नहीं सोता है--उसे जानना ही साधना है। जो सोता है उसे ही मानते रहना जीवन को व्यर्थ कर देना है। जो सोता है, वह मर जाएगा। जो नहीं सोता है, वह नहीं मरेगा वह अमृत है। इसीलिए पुराने दिनों में निद्रा को भी अल्प मृत्यु ही समझा जाता रहा है। वह भी मृत्यु का ही रूप है। जो सोता है, वह एक दिन समाप्त हो जाएगा, बिल्कुल सो जाएगा। जो अभी सोने के बीच में जागा हुआ है अगर हम उसको पहचान लें और जान लें, तो हम मृत्यु के बीच में उसे जानेंगे जो कि नहीं सो रहा है। उसको ही जानना साधना है।

कोई पूछ रहे हैं कि साधना क्या क रें, कैसे करें?

अभी तो बता ही सकता हूं चर्चा में थोड़ा सा। सच में ही करनी है तो मेरे पास दो-चार दिन रुक कर प्रयोग समझने चाहिए।
यह मैंने कहा कि जो सो जाता है। वही जब एक दिन अंतिम रूप से सो जाता है
तो हम कहते हैं कि मृत्यु हो गई। और हमारे भीतर कुछ--एक तत्व है जो जागता है और सुबह जाग कर कहता है कि रात मैं बहुत गहरी नींद में सोया। जो यह कहता है कि रात मैं बहुत गहरी नींद में सोया जरूर वह सोया नहीं होगा। तो अब रास्ता उसे जानने का क्या है जो कि नहीं सोता। उसे जानने का एक ही रास्ता है। आप के भीतर जो भी सो सकता है उसे बिल्कुल सुला दें। और सुलाते चले जाएं। और जब आप ऐसे तत्व पर पहुंच जाएं कि जिसको आप नहीं सुला सकते, जिसको आप कितने ही सुलाएं, वह जागे ही रहता है जागे ही रहता है। तो आप समझना कि आप अपने पर पहुंच गए। योग इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उन सारे तत्वों को सुलाने का नाम समाधि है। जो सो सकते हैं। शरीर को सुला दें कि बिल्कुल सो गया। श्वास को बिल्कुल सुला दें कि सो गई। मन को विचार को बिल्कुल सुला दें कि सो गया। सब सो गया है। और इस वक्त भी आपके भीतर कोई जागा हुआ है जो कि सो ही नहीं सकता सुला नहीं सकते आप जो आप स्वयं हैं। जो सबको सुला रहा है। उसे स्वयं नहीं सुलाया जा सकता। वह जागा ही रहेगा। समाधि एक तरह की मृत्यु का अनुभव

है जिसमें जो मर सकता है, मरा हुआ पड़ा है। और जो नहीं मर सकता वह अमृत बिंदु भीतर जागा हुआ है।
इस समाधि के दो चरण हैंः एक चरण देह को सुलाने का है। दूसरा चरण मन को सुलाने का है। देह को तो रोज रात हम सुला देते हैं। लेकिन वह भी हम नहीं सुला देते। निद्रा आप नहीं लेते हैं निद्रा आप पर आती है। इसलिए कभी न आए तो आपके हाथ में नहीं होता कि इसको आप ले आएं। आप थक जाते हैं तो नींद आती है। थकान से जो नींद आती है वह तो नींद है। और अगर आप अपनी सु-चिंता से शरीर को छोड़ दें, तो वह नींद न होगी, वह आसन हो जाएगा। जो अपने आप आ जाती है वह तो नींद है वह तो प्राकृतिक है। अगर आप अपनी तरफ से शरीर को ऐसे छोड़ देंगे तो वह मुर्दा है। उसमें कोई प्राण ही नहीं है। तो वह साधना का हिस्सा हो जाएगा। शरीर पर अपने आप नींद आती है तब वह बिल्कुल मृत पड़ जाता है। आप अपनी तरफ से उसे मृत छोड़ दें तो साधना शुरू हो गई। एक आधा घंटे को शरीर को बिल्कुल मृत छोड़ दें। थोड़े ही दिन भाव और अभ्यास करने से अनुभव करेंगे कि शरीर बिल्कुल मृत पड़ा हुआ है। अपने ही शरीर को आप देखेंगे कि वह मुर्दा है जड़ की तरह पड़ा हुआ है। अगर उस पर कोई चींटी भी चढ़ रही हो तो वह ऐसी मालूम पड़ेगी कि जैसे किसी के शरीर पर चढ़ रही है। थोड़े ही दिन के प्रयोग से आप जानेंगे कि जैसे किसी के शरीर पर चढ़ रही है। उस पर अगर कोई पत्थर भी गिरा दे तो ऐसा लगेगा कि किसी के शरीर पर गिरा दिया। अगर शरीर को मृत करने का भाव और अभ्यास करेंगे। तो थोड़े ही दिनों में शरीर बिल्कुल मृतवत मालूम होगा।
जैसे-जैसे भाव की प्रगाढ़ता होगी कि शरीर मृत होता जा रहा है। वैसे- वैसे श्वास आपकी धीमी होती चली जाएगी। श्वास सूचक है। शरीर अगर जीवित है तो सांस ह, अगर शरीर मृत होता चला जा रहा है, श्वास मंद होती चली जाएगी। जब शरीर की साधना में परिपूर्णता आएगी तो आप हैरान हो जाएंगे, शरीर बिल्कुल अगर मृत अवस्था में पड़ा होगा, श्वास बिल्कुल स्थिर हो जाएगी। श्वास का पता नहीं चलेगा। नींद में श्वास तेज हो जाती है। समाधि में श्वास विलीन हो जाती है। इसलिए नींद में और इस स्थिति में बहुत फर्क है। नींद में आपकी श्वास जितनी आप लेते हैं उससे बहुत तेज होती है, इसलिए आप खर्राटा भी लेते हैं। श्वास बहुत तेज हो जाती है। क्योंकि सारे शरीर का यंत्र अपने को सुव्यवस्थित करने का प्रयोग करता है। सारे शरीर में सारी खराबी निकाली जाती है, सारी व्यवस्था होती है। पूरा कारखाना शरीर का अपना काम करता है। श्वास की और ज्यादा जरूरत होती है। सारी सफाई होती है। और इसीलिए इतनी तेज श्वास चलाने के लिए, इतनी बड़ी यांत्रिक सफाई के लिए आप अगर होश में रहें तो बाधा देंगे। इसलिए प्रकृति आपको बेहोश कर देती है। आप बाधा देंगे कोई काम करेंगे, यह करेंगे, वह शक्ति जो पूरे शरीर की सफाई और व्यवस्था में लग रही है, वह दूसरे कामों में लगाएंगे, इसीलिए प्रकृति आपको मूर्च्छित कर देती है। आपका शरीर बिल्कुल निढाल होकर पड़ जाता है। समाधि में दूसरी स्थिति होती है। शरीर की सफाई नहीं होती। शरीर की सारी क्रियाएं शून्य होने लगती है। शरीर की सारी क्रियाएं बंद हो जाती है तो शरीर जड़ हो जाता है। मृत हो जाता है। इस अवस्था को मैं आसन कहता हूं। जब शरीर बिल्कुल मृतवत हो। श्वास बिल्कुल धीमी होते-होते करीब-करीब न हो जाएगी। ज्ञात नहीं होगा कि आ रही है कि नहीं आ रही है। बहुत अल्प रह जाएगी।
यह पहला हिस्सा है, इसको आसन कहता हूं। दूसरा हिस्सा मन का है, उसको मैं ध्यान कहता हूं। शरीर बिल्कुल ऐसा हो जाए कि नहीं है तो आसन हो गया। और मन ऐसा हो जाए कि नहीं है तो ध्यान हो गया। रात को शरीर निढाल होकर पड़ जाता है। लेकिन मन चलता रहता है। विचार चलते रहते हैं। कोई दस-पांच मिनट को रात्रि के किसी क्षण में विचार भी बंद हो जाते हैं। स्वप्न भी बंद हो जाते हैं, उस वक्त का नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति में आप अपनी आत्मा में होते हैं। चौबीस घंटे में हर व्यक्ति थोड़ी देर को अपनी आत्मा में प्रविष्ट होता है। उस स्थिति का नाम सुषुप्ति है। और उसी स्थिति में आपको आनंद अनुभव होता है। जब सुबह आप कहते हैं कि रात बड़ी गहरी नींद थी, मुझे आनंद आया। और जिस रात गहरी नींद में नहीं हो, उस रात आनंद नहीं आया। गहरी नींद

क्या आनंद देगी। वह सुषुप्ति के क्षण जब कि स्वप्न भी बंद हो जाते हैं, आप अपनी आत्मा में प्रवेश करते हैं। वही प्रवेश आनंद देता है। लेकिन वह भी मूर्च्छा में होता है। आप अपनी तरफ से वहां नहीं गए। भेजे गए हैं। प्रकृति ने आपको भेजा है अपने भीतर। समाधि में आप अपनी तरफ से जाते हैं। तो एक अंग हुआ कि शरीर मृतवत हो जाए। दूसरा अंग हुआ कि चित्त बिल्कुल शून्य हो जाए। विचार विलीन हो जाएं। चित्त में कोई विचार न रह जाए। कोई विचार न रह जाए। शरीर को बिल्कुल छोड़ देने से शरीर मृतवत हो जाता है। और चित्त को बिल्कुल छोड़ देने से उसमें सारी पकड़ छोड़ देने से, पकड़ छोड़ने से।
पकड़ दो तरह की है चित्त पर हमारीः एक तो पकड़ हमारी यह है कि चित्त में कोई बुरी चीज न आ जाए। तो हम ऐसा हाथ रोके रखते हैं कोई चित्त में बुरा विचार न आ जाए। और चित्त में जो भले विचार हैं उनको हम पकड़े रहते हैं कि कहीं वह चले न जाएं। जो हम सुख-दुख के साथ करते हैं, वही शुभ और अशुभ विचारों के साथ करते हैं। शुभ विचार को पकड़ते हैं, अशुभ विचार को धक्का देते हैं। पकड़ छोड़ने का अर्थ है--न आप धक्का दें और न आप पकड़ें। चित्त में जो आता हो, जो जाता हो, आने दें जाने दें। आप बिल्कुल तटस्थ होकर रह जाएं। आप को कोई मतलब नहीं। जैसे किसी धर्मशाला के कमरें में बैठे हैं लोग आ रहे हैं और जा रहे हैं। जा रहे हैं और आ रहे हैं। आपको कोई मतलब नहीं। आप अपने कोने में बैठे हैं। चित्त में ऐसे तटस्थ साक्षी का प्रयोग कि आप सिर्फ देखने वाले मात्र हैं। जो आता है आए, जो जाता है जाए। न हमने किसी को रोकना, न हमने किसी को भेजना। शुरू में दिक्कत होगी, क्योंकि बहुत दिनों के बुरे रोके हुए विचार एकदम से प्रवेश कर जाएंगे। और बड़ी घबड़ाहट देंगे क्योंकि कई दिनों से रोका हुआ है दरवाजे पर उनको कि अंदर मत आना। कई को भीतर दबाया हुआ कि उठ मत आना। तो एकदम से विस्फोट होगा, सब निकलेंगे। और जबरदस्ती ही शुभ विचारों को रोक रखा है बहुत दिन से जैसे हाथ छोड़ेंगे, वह सब पक्षी जैसे विचार होंगे एकदम उड़ जाएंगे। शुभ विचारों के पक्षी एकदम उड़ जाएंगे। अशुभ विचारों के जीव-जंतु एकदम आपके भीतर खड़े हो जाएंगे। बहुत घबड़ाहट होगी। इसी घबड़ाहट की वजह से पकड़े हैं। शुभ को अशुभ को दबाए हुए हैं। बुरे को दबाए हुए हैं अच्छे को पकड़े हुए हैं। इसी स्थिति में हिम्मत और साहस का नाम तपश्चर्या है। इस स्थिति में शुभ को पकड़ने, अशुभ को रोकने की चेष्टा छोड़ दें। जो होता है, वह हो हम चुपचाप खड़े देखते रहें। बड़े साहस का बिंदु है। बड़ी हिम्मत की जरूरत है। इतना भी सोच होगा, विकार का। लेकिन इसके पूर्व की विकारों से मुक्ति हो विस्फोट होना जरूरी है। इसके पूर्व की जिन विकारों को जन्मों-जन्मों से इकट्ठा किया है उनका विसर्जन हो उनका उठना और उनका मुक्त होना जरूरी हो। और इसके पहले कि वास्तविक शुभ का जन्म हो, जबरदस्ती जिस शुभ को पकड़ रखा है, उसका छोड़ देना जरूरी है। शुभ छा.ेड दें। अशुभ की रोक छोड़ दें। शुभ-अशुभ का विचार छोड़ दें और चुपचाप पड़े रह जाएं और देखते रहें। कुछ ही दिनों में बहुत अशुभ का विकार उठेगा, उसे देखते रहें। सब शुभ के पक्षी उड़ जाएंगे, उन्हें उड़ते हुए देखते रहें। धीरे-धीरे आप हैरान होंगे कि सारे विकार का जो तूफान आया था, वह विलीन होता चला जा रहा है। अगर आपने फिर पकड़ शुरू कर दी, तो बात अलग है। अगर पकड़ शुरू नहीं की, तो सारा तूफान विलीन हो जाएगा। कितनी ही बड़ी आंधी हो, वह थोड़ी देर में शांत होती चली जाएगी, शांत हो जाएगी। आखिर में आप पाएंगे कि आंधी तो कोई भी नहीं है--न वहां शुभ है, न वहां अशुभ है। आप अकेले ही खड़े रह जाएंगे। न वहां कोई बुरा विचार है, न कोई भला विचार है। न वहां पाप का कोई विचार है, न वहां कोई पुण्य का विचार है। आप वहां बिल्कुल अकेले ही खड़े रह जाएंगे। उस लोनलीनेस में, उस अकेला खड़े होने की स्थिति में आपको उसका पता चलेगा जो आप हैं। और उसका पता चलेगा जो सोते समय सोता नहीं और मरते समय मरता नहीं। इस स्थिति का नाम ध्यान है। शरीर का मृतवत हो जाना आसन है। चित्त का मृतवत शून्य हो जाना ध्यान है। दोनों के जोड़ का नाम समाधि है। समाधि में स्व का बोध संभव होता है।

यह तो मैं इतना कह ही सकता हूं फिलहाल, कभी इकट्ठे होते हैं तो इसका प्रयोग भी किया जा सकता है। यानी कि मैं आपको मरना सिखा सकता हूं। और जो मरना सीख ले उसे अमृत का पता हो जाए।

पथ की खोज
चौथा प्रवचन

जीवन-दर्शन

मैं जीवन-दर्शन के संबंध में कुछ कहूं, उससे पहले आपको कुछ कहना चाहूंगा कि जीवन यद्यपि हमें मिला हुआ मालूम होता है, हमें प्रतीत होता है कि हम जी रहे हैं। लेकिन सच में जीवन बहुत कम लोगों को उपलब्ध होता है। जन्म तो बहुत लोगों को मिलता है, सभी को मिलता है। जीवन सभी को नहीं मिलता। जन्म तो आपको मिलता है, जीवन आपको पाना होता है। जन्म तो आपको नेचर से, प्रकृति से मिलता है, जीवन आपको साधना से उपलब्ध करना होता है।
एक स्मरण मुझे आता है, एक साधु के पास एक व्यक्ति दीक्षित हुआ। जो व्यक्ति दीक्षित हुआ था, वह बहुत वृद्ध था। उसकी उम्र काफी थी। उस साधु ने उस वृद्ध साधु को, उस दीक्षित साधु को पूछा, आपकी उम्र क्या है? उस साधु ने कहाः अभी तो मेरी उम्र केवल वर्ष भर है। सुन कर जो लोग बैठे थे, हैरान हुए। उन्होंने पूछा, वर्ष भर? यह तोनितांत ही असत्य है। वह आदमी वृद्ध था। उस वृद्ध साधु ने कहाः एक वर्ष पहले जो मुझे जीवन अनुभव हुआ, उसके पहले मुझे कोई जीवन अनुभव नहीं हुआ था। मैं जी रहा था, लेकिन जीवन का मुझे कोई पता नहीं था। हम जी रहे हैं यह एक बात है, हमें जीवन का अनुभव हो, यह बिल्कुल दूसरी बात है। जीवन के अनुभव को उपलब्ध करने के लिए ही धर्म है। जो धर्म के मार्ग से नहीं गुजरेगा, उसे जीवन उपलब्ध नहीं होता।
हम करीब-करीब मृत हैं, हम करीब-करीब मरे हुए लोग हैं। इसलिए यह कह रहा हूं कि हम करीब-करीब मरे हुए लोग हैं। और हम जिसे जीवन समझ रहे हैं वह मृत्यु है। यह इसलिए कह रहा हूं, मैं भी जन्मा। जिस दिन मेरा जन्म हुआ। मैं उसी दिन मरना भी शुरू हो गया हूं। मेरी मृत्यु भी उसी दिन से प्रारंभ हो गई है। हम जिसे जीना समझते हैं, वह एक क्रमिक मृत्यु है। एक ग्रेजुअल डेथ है। जिससे हम रोज-रोज मरते चले जाते हैं। एक दिन मृत्यु पूरी हो जाती है। जन्म पर मृत्यु का प्रारंभ होता है। मृत्यु की मृत्यु पर ही समाप्ति हो जाती है। जिसे हम जीवन करके जानते हैं उसे जीवन करके जानना नासमझी है। उसे क्रमशः धीमे-धीमे मृत्यु करके जानना ही उचित होगा। हम प्रतिक्षण मरते जा रहे हैं। और जो भी इस मरण की प्रक्रिया से चिपका है, जो स्मरण की प्रक्रिया को ही जीवन समझ रहा है, वह होश में नहीं जी रहा। वह बहुत स्वप्न में है। वह बहुत निद्रा में है। वह करीब-करीब मूर्च्छित है। वह करीब-करीब मूर्च्छित है और उसकी सारी क्रियाएं मूर्च्छा में चल रही हैं।
जीवन का पहला अनुभव मनुष्य को इस सत्य के अनुभव से शुरू होता है कि अपने भीतर वह उसको जान सके जिसकी मृत्यु नहीं होगी। और यह ठीक भी है--जीवन और मृत्यु दोनों शब्द विरोधी शब्द हैं। जीवन की मृत्यु संभव नहीं है और मृत्यु का कोई जीवन संभव नहीं है। साधारणतया हम देखते हैं, एक व्यक्ति जीवित था और मर गया। मैं आपसे कहना चाहूंगा, उसके भीतर जो मृत था वही मरा है। उसके भीतर जो जीवित था, वह नहीं मर सकता। हममें दोनों जुड़े हैं, मनुष्य में जीवन और मृत्यु का मेल हुआ। महावीर की भाषा में कहें तो मनुष्य में जीव का और अजीव का मेल हुआ। जीवन और मृत्यु का हमारे भीतर मेल है, हम संगम हैं। हममें दोनों हैंः मृत्यु भी है और जीवन भी है। हममें वह हिस्सा भी है जो मरेगा इस क्षण भी मरा हुआ है। और हममें वह हिस्सा भी है, जो जीवित है और जीवित रहेगा और जिसकी मृत्यु संभव नहीं है।
मनुष्य एक द्वैत, एक डुआलिटी है। मनुष्य के भीतर दो मनुष्य हैं। मनुष्य के भीतर दो व्यक्तित्व की पर्तें हैंः मनुष्य एक दुविधा है एक दुई है। मनुष्य दो है, इकाई नहीं है। मेरे भीतर इकाई नहीं है। नास्तिक की, पदार्थवादी की यही घोषणा है, मनुष्य यूनिटरी है, इकाई है। उसका कहना है, मनुष्य केवल देह है, उसके भीतर कोई आत्मा कोई चैतन्य नहीं है। उसका कहना है, मनुष्य केवल मृत्यु है, उसके भीतर कोई जीवन नहीं है। पदार्थवादी का, भौतिकवादी की यह घोषणा है कि मनुष्य केवल मृत्यु है, उसके भीतर कोई जीवन

नहीं है। उसमें सब मुर्दा है, सब पदार्थ है, सब जड़ है। वह मैटर है, उसके भीतर कोई चैतन्य नहीं है। कोई परमात्मन उसके भीतर नहीं।
अध्यात्मवादी की यह घोषणा है, मनुष्य यूनिटरी नहीं है, मनुष्य इकाई नहीं है, मनुष्य डुआलिटी है, द्वैत है। मनुष्य के भीतर दो हैं। उसके भीतर कुछ है जो पदार्थ है, उसके भीतर वह भी है जो पदार्थ का अतिक्रमण करता है, पदार्थ को ट्रांसेंड करता है। पदार्थ के पार पदार्थ से भिन्न, पदार्थ से अलग भी उसके भीतर कुछ है, वही उसकी आत्मा है। तो जो अपने को शरीर मान कर समाप्त हो जाएंगे, वे मृत थे और मृत हो गए। और जो अपने को, जीवन को अनुभव करेंगे--अपने भीतर उस तत्व को अनुभव करेंगे और उससे स्पंदित होंगे जो कि मृत नहीं है और कभी मृत नहीं होगा, जो कि अमृत है--जो उससे स्पंदित होंगे और उससे संबंधित होंगे, वे जीवन को अनुभव करेंगे। मैंने कहा जन्म सब को मिलता है जीवन सब को नहीं मिलता। मृत्यु सब को मिलती है अमृत सभी को नहीं मिलता। जो केवल जन्म पर समाप्त है, उसे मृत्यु भर मिलेगी। और जिसने जीवन को उपलब्ध किया उसे अमृत भी मिलता है। अमृत को उपलब्ध करते ही जीवन, आनंद, शांति, प्रभुसत्ता से व्याप्त हो जाता है। और मृत्यु को ही जीवन भर पकड़े रह कर उसके ही घेरे में जीते रह कर स्वाभाविक है कि जीवन दुख और पीड़ा में परिणित हो जाए। जो मृत्यु को अपना केंद्र बनाए हुए है, जो मरणधर्मा से जुड़ा हुआ है और जो समझ रहा है कि यह मरणधर्मा ही मैं हूं और इस मरणधर्मा के आस-पास बहुत सी मरणधर्मा वस्तुओं को इकट्ठा कर रहा है और समझ रहा है कि उनसे उसने कुछ जोड़ा और उपलब्ध किया--वह भूल में है।
एक साधु एक गांव से गुजरता था। एक व्यक्ति ने, जो बहुत समृद्धशाली था; बहुत ही संपत्तिशाली था; उस साधु के पैर पकड़े और उसको कहा कि मेरे पास बहुत है। अब तुम्हारे प्रति मेरे मन में इतना आदर और प्रेम आया कि मैं चाहता हूं कि मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकूं। मेरे पास बहुत है, मैं कुछ करना चाहता हूं। उस साधु ने कहा सच ही करोगे, सच ही करोगे! तुम कहते तो है कि तुम्हारे पास बहुत है। मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। तुम मुझे बिल्कुल खाली और नग्न और भिखमंगे दिखाई देते हो। वह हंसने लगा वह बोला आप समझते नहीं। मेरे पास बहुत संपत्ति है। उस सारी संपत्ति को मैं साथ थोड़े लिए फिरता हूं। मेरे पास बहुत है, आप कहें और पूरा हो जाएगा।
उस साधु ने कहाः तुम कहते हो माने लेता हूं। विश्वास मुझे नहीं आता। तुम्हारी आंखों में झांकता हूं भीतर, तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। अभी तो तुम्हें यह भी पता नहीं है कि तुम भी हो। जिसे यह भी पता नहीं है कि वह है, उसके पास और क्या होगा। लेकिन तुम कहते हो तो माने लेता हूं। एक छोटा सा काम है, कर देना। उसने अपनी वस्तुओं से एक कपड़ा सीने की एक सुई निकाली और उस व्यक्ति को दी। और कहा इसे सम्हाल कर रख लो। जब हम दोनों मर जाएं तो वापस कर देना। वह आदमी घबड़ा गया होगा। आप भी घबड़ा गए होते। कोई भी घबड़ा गया होता। साधु पागल प्रतीत हुआ होगा। मृत्यु के बाद सुई को लौटाना कोई पागल ही सोच सकता है। लेकिन उस व्यक्ति ने खुद ही मांगा था काम, इसीलिए कुछ कहा नहीं। रात भर वह सोचता रहा। मित्रों से पूछा, उनसे पूछा जो समझदार थे। लेकिन लोगों ने कहा पागल हुए हो। मृत्यु के बाद सुई नहीं लौटाई जा सकती। क्योंकि मृत्यु तक सुई को ले जाया नहीं जा सकता। मृत्यु के पीछे सुई को ले जाना असंभव है। माना कि सुई छोटी है, अल्प है, क्षुद्र है लेकिन उसे किस मुट्ठी में बांधोगे कि मौत के पार ले जाओ। सब मुट्ठियां इसी पार रह जाती हैं। सारी पकड़ इसी पार छूट जाती है। कुछ भी ले जाया नहीं जा सकता। तो रात अंधेरे में लौटा और साधु को उसने सुई वापस दी। पैर पकड़े और क्षमा मांगी। और कहा इसे अभी वापस ले लें कि कहीं उधारी ऊपर न रह जाए। क्योंकि मृत्यु के बाद तो वापस नहीं कर सकूंगा। इसे वापस ले लें। मैं क्षमा मांगता हूं। यह मेरे सामर्थ्य के बाहर है। मैं इसे मृत्यु के पार नहीं ले जा सकता। वह साधु बोला यह तो मैं जानता था कि इसे मृत्यु के पार नहीं ले जा सकते। लेकिन क्या इससे तुम्हारे मन में एक प्रश्न उठा। क्या तुम्हारे मन में एक ख्याल उठा कि तुम्हारे पास कुछ और भी है जिसे तुम मृत्यु के पार ले जा सकते हो। वह आदमी बोला, उसी ने तो मुझे चौंका दिया है। और एकदम नग्न और भिखमंगा कर

दिया है। पहली दफा मेरे पास कुछ भी नहीं है, जो मैं मृत्यु के पार ले जा सकूं ऐसा मेरे पास कुछ भी नहीं है।
जो अपने मरणधर्मा शरीर को सब समझेगा, वह मरणधर्मा वस्तुएं अपने पास इकट्ठी कर लेगा। उसी वस्तुओं के संग्रह को महावीर ने परिग्रह कहा है। उनको इकट्ठा कर लेना जो मृत्यु के पार न जा सकेंगी। और उनमें मोह को और आसक्ति को स्थापित कर लेना परिग्रह है। जो मृत्यु के इसी तरफ छूट जाएगा। उसे अपना जीवन समझ लेना परिग्रह है। जो मृत्यु की लपटों को नहीं पार कर सकता, उस क्षणभंगुर को सब कुछ मान लेना परिग्रह है। वह मूर्च्छा परिग्रह है जो व्यक्ति अपने को देह समझेगा, पदार्थ समझेगा। वह अपने आस-पास पदार्थ को इकट्ठा करेगा। स्वाभाविक ही, स्वाभाविक ही वह पदार्थ को इकट्ठा करेगा। क्योंकि वह पदार्थ है और पदार्थ के इकट्ठे होने से सुख प्रतीत होगा, समृद्धि प्रतीति होगी, सत्य प्रतीत होगी। होगा प्रतीत कि मैं कुछ हूं, कुछ मेरे पास होगा तो मुझे लगेगा कि मैं कुछ हूं। इसीलिए सारे जगत में दौड़ है कि मेरे पास कुछ हो, क्योंकि कुछ होने से मुझे लगेगा कि मैं कुछ हूं। जितना ज्यादा मेरे पास होगा उतना ज्यादा मैं हो जाऊंगा। जितना कम मेरे पास होगा उतना कम मैं हो जाऊंगा। मेरे पास कुछ भी न होगा तो मैं तो शून्य हो जाऊंगा। हम सब शून्य की तरह घूमते हुए लोग हैं। जिनके पास तो जिनके भीतर तो कुछ नहीं है, लेकिन जिनके बाहर कुछ इकट्ठा है, उसी के बलबूते पर वे कुछ बने हुए हैं। किन्हीं के पास धन है, किन्हीं के पास पद है, किन्हीं के पास ज्ञान है, किन्हीं के पास त्याग है, किन्हीं के पास कुछ है, किन्हीं के पास कुछ है। उसके बलबूते पर वे बने हैं कि हम कुछ हैं, मैं कुछ हूं। भीतर एक शून्य खड़ा है और बाहर हम समृद्ध को इकट्ठा किए हैं। शून्य को दबाए हुए हैं और छिपाए हुए हैं। लेकिन मौत शून्य को उघाड़ देगी और तब पता चलेगा, पास में कुछ भी नहीं है। और तब ज्ञात होगा, एक प्रवंचना में नष्ट कर लिया अपने को। और तब ज्ञात होगा, एक भ्रम में, एक स्वप्न में खो दिया अपने को, पास तो कुछ भी नहीं है।
मृत्यु भी शून्य को उघाड़ेगी। जो व्यक्ति मरने के पहले उस शून्य को उघाड़ लेता है, वह जीवन को उपलब्ध हो जाता है। मृत्यु भी शून्य को अनिवार्यतया उघाड़ देगी। जिस खालीपन को अकेलेपन को मृत्यु नग्न कर देगी। उसे जो अपने हाथ से मृत्यु के पहले उघाड़ लेता है, वह साधु है, संन्यासी है, वह साधक है। साधना का कोई और अर्थ नहीं है, जो मृत्यु उघाड़ेगी--उसे स्वयं उघाड़ लेना साधना है। जो मृत्यु छीन लेगी, उसे स्वयं छोड़ देना साधना है। सिर्फ उतने को बचा लेना जिसे कि मृत्यु नहीं छीन सकेगी। सिर्फ उतने को बचा लेना जिसे मृत्यु नहीं छीन सकेगी। अपरिग्रही हो जाना है। उतने को बचा लेना जिसे कोई नहीं छीन सकेगा। क्योंकि जिसे मृत्यु नहीं छीन सकेगी उसे फिर कौन छीन सकेगा? मृत्यु अंतिम छीनने वाला है, सबसे समर्थ छीनने वाला है। अपने हाथ से अपने शून्य को उघाड़ लेना, अपने अकेलेपन को उघाड़ लेना और जान लेना कि भीतर मैं क्या हूं। जो मेरे पास है उसके भ्रम में मैं न रहूं, जो मैं हूं, वही मेरा है। जो मेरे पास है वह मेरा नहीं है, वह किसी का भी नहीं है। जब मैं नहीं था तब भी वह था, जब मैं नहीं रहूंगा तब भी वह रहेगा। जो मेरे पास है, जब मैं नहीं रहूंगा तब भी वह रहेगा। जब मैं नहीं था तब भी था। वह मेरा नहीं हो सकता है। मैं ही केवल मेरा हो सकता हूं। इस मैं को जानना होगा जो कि मेरा अकेला साथी है--जीवन में, मृत्यु में; जन्म में, मरण में; सुख में, दुख में। जो हर परिवर्तन में मेरे साथ है और अपरिवर्तित है। इस मैं को ही जानना होगा। इसको जो नहीं जानता वह भ्रांति में है, भूल में है। इसे जो जानता है वह ज्ञान को और आनंद को उपलब्ध हो जाता है।
इस मैं को जानना होगा। दो ही रास्ते हैंः एक रास्ता है, उसे जानें हम
जो हमारे पास है, जो हमें घेरे हुए है, जो हमारे चारों तरफ मौजूद है। जो हमारे चारों तरफ मौजूद है, उसका नाम संसार है। मेरे चारों तरफ जो वस्तुएं हैं, अगर मैं अपने को केंद्र मान लूं, मेरे चारों तरफ पर जो पर स्थित है अनंत-अनंत लोकों तक, तो वह संसार है। इसको जानना, इसे साइंस करती है, विज्ञान करता है। जो मेरे चारों तरफ है उसे जानने का उपाय विज्ञान करता

है। लेकिन वही तो सब कुछ नहीं है, मैं भी तो हूं। मेरे चारों तरफ जो है, वही सब कुछ नहीं है। मेरे भीतर भी कुछ है वह--उसे जानने का उपाय धर्म करता है। केंद्र को जानने का उपाय धर्म है। परिधि को जानने का उपाय विज्ञान है। आज जगत में केवल विज्ञान रह गया है। आज जगत में धर्म नहीं है।
धर्म के नाम से जो चल रहा है, वह बिल्कुल भी धर्म नहीं है। इस धर्म के अभाव में हमारे पास सब है, केवल हम को छोड़ कर। इस धर्म के अभाव में हम सब जानते हैं केवल अपने को छोड़ कर। इस धर्म के अभाव में हम सब इकट्ठा कर लेंगे और स्वयं को खो देंगे। और उसे इकट्ठा करने का क्या मूल्य हो सकता है, जिसके, जिसकी कीमत में, जिस सौदे में स्वयं को खो देना पड़ता हो। महावीर ने सब छोड़ा, बुद्ध ने सब छोड़ा। सब छोड़ा इसलिए, सब छोड़ा इसलिए कि अगर स्व मिल जाए तो सब छोड़ कर भी सस्ता सौदा हुआ कि अगर स्व मिल जाए अगर स्वयं मिल जाऊं तो सब छोड़ कर भी सस्ता सौदा हुआ। सस्ता इसीलिए हुआ कि वह अकेली संपत्ति है जो छीनी नहीं जा सकती है। और वह अकेला जानना है जो मनुष्य को अमृत से, अनंत से, अनादि से जोड़ देता है। और वह अकेला जानना है जो जीवन में प्रवेश देता है। उसके आस-पास मृत्यु है। मेरे चारों तरफ मृत्यु है। इतना और मुझे जान लेना है कि मेरे भीतर भी तो मृत्यु नहीं है।
मेरे चारों तरफ मृत्यु है, यह मैं जानता हूं। रोज मरते देखता हूं दरख्तों को, रोज मरते देखता हूं पशुओं को, पक्षियों को, रोज मरते देखता हूं प्रियजनों को, अप्रियजनों को। मेरे चारों तरफ जो भी हैं, मित्र हैं, शत्रु हैं--जो भी मेरे चारों तरफ हैं, उन सब को मरते देखता हूं। चारों तरफ मृत्यु पर्याप्त है, कहीं जीवन तो दिखाई नहीं देता। एक केंद्र और जान लेने का है कि मेरे भीतर भी तो कहीं मृत्यु व्याप्त नहीं है। वहीं भर मृत्यु अभी तक देखी नहीं गई है। चारों तरफ मृत्यु ही मृत्यु है। शायद हम मृत्यु के एक सागर में खड़े हैं। कोई ऐसा बिंदु नहीं है बाहर जो न मर जाता हुआ देखा गया हो। सब बिंदु बाहर मर जाते और टूट जाते हैं। बाहर कुछ भी थिर नहीं है। बाहर कुछ भी अमृत नहीं है। बाहर कोई भी शाश्वत जीवन नहीं है। अब एक बिंदु और शेष रह जाता है कि मैं उस भीतर में और देख लूं। अगर वहां भी मृत्यु हो तो जीवन मीनिंगलेस है। सारी व्यर्थ की कथा है।
शेक्सपियर की एक पंक्ति हैः ए टेल टोल्ड बाइ एन इडियट फुल ऑफ चुरियन नाइ.ज सिग्नीफाइंग नथिंग। सब यह एक मूर्ख के द्वारा कही हुई कथा है, जिसमें शोरगुल तो बहुत है, अर्थ कुछ भी नहीं। अगर वहां भीतर भी मृत्यु है तो फिर सिर्फ अज्ञानी ही जी सकते हैं। ज्ञानी अपने को तत्क्षण समाप्त कर लेंगे। फिर कोई मायने नहीं है, फिर कोई अर्थ नहीं है। भीतर जानना बहुत ही जरूरी है। इसीलिए कि वहां अगर ज्ञात हो जाए कि मृत्यु है तो सब जीना फिर व्यर्थ है। और अगर वहां ज्ञात हो जाए कि मृत्यु नहीं है तो सारा जीना सार्थक हो जाएगा। और अगर मुझे अपने भीतर के केंद्र पर ज्ञात हो जाए कि मृत्यु नहीं है तो मैं सब के केंद्र के भीतर जान लूंगा कि मृत्यु नहीं है। मृत्यु दिखती है, मृत्यु है नहीं। अगर मुझे अपने भीतर दिख जाए, अगर मैं अपने भीतर जान लूं कि मेरे भीतर एक बिंदु है जो नहीं मरता है तो मैंने जान लिया कि सबके भीतर एक बिंदु है जो नहीं मरता है। जो भी मरते हैं, मरे हैं, मरेंगे, मर सकते हैं--उनके भीतर कुछ है जो नहीं मर सकता है। तब मृत्यु दिखती है, अमृत पीछे खड़ा है, अगर मुझे अपने भीतर यह बोध हो जाए।
धर्म का संबंध उस अमृत के बोध से है। धर्म का संबंध आपके शास्त्रों से
और ग्रंथों से, मंदिरों और मस्जिदों से नहीं है। और धर्म का संबंध इन व्यर्थ के विवेचनों और बकवासों से नहीं है कि ईश्वर है या नहीं। जगत को किसने बनाया कि कर्म होता है या नहीं--धर्म का इन सारी चीजों से कोई संबंध नहीं है। धर्म का तो एक ही चीज से संबंध है कि सारे मृत्यु के बीच कुछ अमृत है या नहीं और अगर उस अमृत का पता चल जाए तो आत्मा भी है और परमात्मा भी है और फिर सब है। और अगर उस अमृत का पता न चले और ज्ञात हो जाए कि वहां मृत्यु है तो न तो कोई परमात्मा है और न तो कोई आत्मा है। न कोई धर्म है फिर कुछ भी नहीं। फिर हमारे सारे पूजागृह और हमारी सारी आराधनाएं और हमारे सारे

शास्त्र और हमारे सारे धर्म के क्रियाकांड स्वप्न में की हुई बकवासों से ज्यादा नहीं हैं। इनमें फिर कोई अर्थ नहीं रह जाता।
उस बिंदु को जानना है, जो मैं हूं। जो मेरे भीतर है, उससे परिचित होना है। कैसे उससे हम परिचित होएं! जो हमारे बाहर है उससे तो हम परिचित हो जाते हैं--दीखता है, परिचित हो जाते हैं। दीखता है, सब दिखाई पड़ रहा है। एक मैं ही अकेला हूं जो मुझे दिखाई नहीं पड़ता हूं और यह भी ठीक है। दूसरे को देखा जा सकता है, स्वयं को देखा भी कैसे जा सकेगा। जो देखा जा सकेगा वह तो देखने से ही दूसरा हो जाएगा। जो देखा जा सकेगा वह तो देखने मात्र से दूसरा हो जाएगा। क्योंकि देखने में ही दूसरा हो जाएगा। सब दिखना दूसरे का हो सकता है, स्वयं का दिखना कैसे होगा। सच तो यह है कि स्वयं का दिखना नहीं हो सकता है। आत्म-दर्शन शब्द लगता तो अच्छा है, है झूठा। आत्म-दर्शन हो नहीं सकता। सब दर्शन पर दर्शन है। सब देखने में दूसरा दिखाई पड़ता है। देखना मात्र दूसरे का होता है तो फिर आत्म-दर्शन का क्या अर्थ होगा। स्वयं को कैसे देखिएगा आप! क्योंकि देखेंगे तो दो हिस्सों में टूट जाइएगा। जो देख रहा है और जो दिखाई पड़ रहा है। जो देख रहा है उसको कैसे देखिएगा! उसे तो नहीं देखा जा सकता। तो फिर क्या आत्म-दर्शन नहीं होगा? क्या स्वयं का दिखना नहीं हो सकता है? स्वयं का दिखना जरूर हो सकता है। उस अर्थ में नहीं हो सकता जिस अर्थ में दूसरे का देखना होता है, दूसरे का दर्शन होता है। बहुत भिन्न अर्थों में स्वयं का परिचय होगा। वह उस क्षण होगा, जब आपको कुछ भी न दिखाई पड़ रहा हो और आप हैं। जब आपको कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा है और आप हैं, वह जस्ट सीइंग की हालत है। जब आप केवल देख रहे हैं और दिखाई कुछ भी नहीं पड़ रहा। उसी क्षण आपको स्वयं का अनुभव होगा।
एक साधु का मुझे स्मरण आता है। एक गांव के किनारे एक पहाड़ी की टेकरी
पर खड़ा है। उसके कुछ मित्र पास से निकलते हैं और सोचते हैं वहां क्या करता होगा! किसी ने कहा, कभी-कभी उसकी गाय खो जाती है, उसे खोजता है। किसी ने कहा, कभी-कभी कोई मित्र साथ होते हैं, पीछे छूट जाते हैं, उनकी प्रतीक्षा करता है। किसी ने कहा, मुझे तो ऐसा नहीं मालूम होता, न प्रतीक्षा मालूम होती है उसकी आंखों में, न खोज मालूम होती। लगता है, वह प्रभु के चिंतन में लीन खड़ा है। ये तीनों यह तय नहीं कर सके कि वह साधु वहां क्या करता होगा? वे उसके करीब गए, वे उसके निकट पहुंचे। उन्होंने उससे पूछा, पूछा उन्होंने, आपकी गाय खो गई, उसे देखते हैं? उस साधु ने कहाः नहीं। अपना तो कुछ भी नहीं है जो खो सके। उस साधु ने कहाः नहीं। अपना तो कुछ भी नहीं है जो खो सके। दूसरे ने पूछाः आप किसी मित्र की प्रतीक्षा करते हैं? उस साधु ने कहाः नहीं। अपना न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है। न अपने कोई आगे है, न अपने कोई पीछे है जिसकी प्रतीक्षा हो सके। उस तीसरे व्यक्ति ने सोचाः अब तो निश्चित ही मेरी बात ठीक होगी। उसने कहाः आप ईश्वर का चिंतन कर रहे हैं? उस साधु ने कहाः नहीं। कोई ईश्वर नहीं है जिसका चिंतन किया जा सके और सब चिंतन व्यर्थ है। उन तीनों ने इकट्ठा पूछा, आप क्या कर रहे हैं फिर? उसने कहा मैं कुछ कर नहीं रहा। मैं केवल हूं, मैं कुछ कर नहीं रहा। मैं केवल मौजूद हूं। उसने कहाः आई एम जस्ट स्टेंडिंग। मैं तो बस खड़ा हुआ हूं, कुछ कर नहीं रहा।
जब भी आप कुछ कर रहे हैं, अपने से बाहर होंगे। जब भी आप कुछ कर रहे हैं, दूसरे से संबंधित होंगे। जब आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं तब आप अपने भीतर होंगे। अपने से संबंधित होंगे। एक ऐसी घड़ी जब आप कुछ कर नहीं रहे। और कुछ सोच नहीं रहे और कोई विचार नहीं हो रहा। उस घड़ी आप उस बीइंग से, उस ऑथेंटिक बीइंग से, उस सत्ता से संबंधित होंगे जिसको महावीर ने आत्मा कहा है। और वहां आप जानेंगे, वहां आपको पहली दफा ज्ञात होगा, मृत्यु नहीं है। इस स्थिति का नाम जब आप कुछ भी नहीं कर रहे और केवल हैं। इसे थोड़ा समझ लें। जब आप कुछ भी नहीं कर रहे और केवल हैं। निश्चित ही मैं चलता हूं, इसका अर्थ है कि मैं चाहूं तो न भी चलूं। निश्चित ही मैं चलता हूं, इसका अर्थ है कि मैं चाहूं तो न भी चलूं। मैं बोलता हूं, इसका अर्थ है कि मैं चाहूं तो न भी

बोलूं। मैं किसी को प्रेम करता हूं, इसका अर्थ है कि मैं चाहूं तो किसी को प्रेम न भी करूं। मैं हिलता-डुलता हूं, मैं चाहूं तो न भी हिलुं-डुलूं। मैं जो भी क्रिया करता हूं चाहूं तो उस क्रिया को न भी करूं। निश्चित
ही मैं क्रियाओं से अलग हूं। इसीलिए चाहूं तो क्रिया कर सकता हूं और चाहूं तो न करूं। मैं बोलने से अलग हूं इसीलिए चाहूं तो बोलता हूं और चाहूं तो अबोल हो जाऊं, न बोलूं। मेरी सत्ता मेरी क्रियाओं से पृथक है, इसीलिए मैं क्रियाओं को बदल लेता हूं। हम क्रियाएं तो रोज बदलते रहते हैं, एक क्रिया करते हैं, फिर दूसरी करते हैं, फिर तीसरी करते हैं। लेकिन कभी हम यह ख्याल नहीं करते। इसी ख्याल से योग का जन्म हुआ कि क्या हम उस घड़ी में भी हो सकते हैं, जब हम क्रियाएं कोई भी न करें।
यह तो मैंने आपसे कहा कि हम क्रियाएं बदल लेते हैं, इस बात की सूचना है
कि हम चाहें तो क्रियाएं न भी करें। हम एक क्रिया से दूसरी पर चले जाते हैं, दूसरी से तीसरी पर चले जाते हैं। योग इस विचार से जन्मा कि क्या ऐसी भी घड़ी हो सकती है जब मैं एक क्रिया से तो जाऊं लेकिन दूसरे पर न जाऊं। मैं सारी क्रियाओं से तो चला जाऊं, कोई क्रिया तो न रह जाए करने को और मैं बिल्कुल अकेला रह जाऊं। मैं रहूं और मैं कुछ करता हुआ न रहूं, इस घड़ी का नाम समाधि है, इस घड़ी का नाम सामायिक है, इस घड़ी का नाम ध्यान है। जब क्रिया तो कोई भी नहीं है, मात्र आप ही अकेले रह गए हैं अपने आत्यंतिक अकेलेपन में। अपनी निपट इकाई में आप अकेले रह गए हैं। जब तक क्रिया होती है, शरीर का सहयोग होता है। बिना शरीर के सहयोग के क्रिया नहीं हो सकती। इसीलिए क्रियाओें के बीच कभी आप आत्मा को नहीं जान सकते, शरीर को ही जानेंगे। जब तक क्रिया है तब तक आप शरीर को ही जानेंगे, क्योंकि सब क्रिया शरीर से होती है। और जब तक आप क्रियाओं को ही जीवन समझेंगे तब तक आप मृत ही रहेंगे। क्योंकि क्रियाएं सब शरीर से होती हैं। और सब क्रियाएं मरणधर्मा हैं। सब क्रियाएं मर जाएंगी। सब क्रियाओं के फल मर जाएंगे। उसे जानना होगा जो शरीर से नहीं होता। वह अक्रिया की स्थिति है, जब आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं, केवल हैं उस क्षण में; जब आप केवल हैं, सारी इंद्रियां शिथिल हैं और शून्य हैं; कोई इंद्री सक्रिय नहीं है; सारा शरीर मृत है; जैसे है ही नहीं; उस घड़ी में आपको उसका पता चलेगा जो शरीर नहीं है।
महावीर ने या बुद्ध ने या क्राइस्ट ने जिस आत्मा की बात कहीं है, वह कोई दार्शनिक धारणा नहीं है। वह कोई ऐसी बात नहीं है कि किन्हीं विचारकों ने तय किया कि आत्मा होनी चाहिए। और कुछ तर्क दिए, कुछ आर्ग्युमेंट दिए, कुछ प्रमाण दिए और तय कर दिया कि आत्मा जरूर होनी चाहिए। आत्मा कोई तार्किक धारणा नहीं है, कोई तार्किक निष्पत्ति नहीं है, यह एक अनुभव से निकला हुआ फल है, यह एक अनुभव है।
महावीर को, बुद्ध को, या क्राइस्ट को इसका अनुभव हुआ है और करोड़ों लोगों को इसका अनुभव हुआ है--जिन लोगों ने भी साहस किया है क्रिया को छोड़ देने का; जिन्होंने ने भी शून्य होने का साहस किया है; जिन्होंने जीते जी पूरी तरह मरने का साहस किया है; उन्होंने उसको अनुभव कर लिया है। जो मृत्यु से डरते हैं, वे धर्म को अनुभव नहीं कर सकते। साधारतया तो मृत्यु से डरने वाले लोग ही धार्मिक देखे जाते हैं। और जैसे-जैसे मृत्यु करीब आने लगती है और लोग बूढ़े होने लगते हैं, लोग धार्मिक होने लगते हैं। मृत्यु से डरने वाला कोई भी धार्मिक नहीं हो सकता, मृत्यु से भयभीत धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म बड़े अभय में, बड़े साहस में, बड़े दुस्साहस में घटित होता है। मृत्यु से डरने वाला धार्मिक कैसे होगा? धार्मिक तो वह हो सकता है जो मृत्यु के पहले मृत्यु को अनुभव करने का साहस रखता हो। मृत्यु के पहले मर जाने की प्रक्रिया जान ले और मर के देख ले। पूरी तरह जब उसके भीतर सब मरा हुआ पड़ा होगा, तब उसे ज्ञात होगा कि एक तत्व मेरे भीतर अब भी जाग्रत है; अब भी जीवित है जो मरा हुआ नहीं है। सब मेरे भीतर मरा हुआ पड़ा है। सारी देह मृत मालूम होती है, सारा मन निष्प्राण निश्चित मालूम होता है।
और तब भी मेरे भीतर कुछ है कोई दीप, कोई ज्योति जो जीवित है। और जिसे बुझाना, मिटाना असंभव है। जब उसे यह अनुभव होगा तब वह सुनिश्चित रूप से

जीवन से संयुक्त हुआ और उसने जाना कि मैं आत्मा हूं। और उसने जाना कि मैं देह नहीं हूं। मनुष्य देह और आत्मा का जोड़ है। लेकिन आप, आप आत्मा हैं। मनुष्य आत्मा और देह का जोड़ है। लेकिन आप, आप आत्मा हैं जिस क्षण आप जानेंगे कि मैं आत्मा हूं उसी क्षण आप मनुष्य नहीं रह जाते। आप मनुष्य से ऊपर उठ जाते हैं। आप मनुष्य से भिन्न हो जाते हैं। यह भी न जानना कि मैं देह हूं, पशु होना है। यह जानना कि मैं देह हूं, मनुष्य होना है। यह जानना कि मैं देह भी नहीं उसके ऊपर कुछ हूं, दिव्य हो जाना है। यह जानना भी नहीं कि मैं देह हूं, यह पशु का लक्ष्ण है। यह जानना कि मैं देह हूं, यह मनुष्य का लक्षण है। यह जानना कि मैं देह से ऊपर कुछ हूं, दिव्य हो जाना है। तीन रास्ते हैं--एक पशु का रास्ता है, एक मनुष्य का रास्ता है, एक दिव्यता का रास्ता है। किसमें हम सम्मिलित होना चाहते हैं, किसमें हम प्रविष्ट होना चाहते हैं, यह हमारे चुनाव, हमारे संकल्प पर है।
मैंने कहा, जिस क्षण उसका बोध हो जाएगा जो मेरे भीतर अमृत है, उस दिन
आप धार्मिक हो जाएंगे। पैदाइश से कोई धार्मिक नहीं होता। इस भ्रम में कोई न रहे कि कोई जैन घर में पैदा हुआ है तो जैन हो गया। अगर यह बात इतनी सस्ती होती कि कोई आदमी जैन घर में पैदा होने से जैन हो जाए, कोई आदमी इस्लाम के घर में पैदा होने से इस्लाम हो जाए तो धर्म होना बिल्कुल ही सस्ती बात होती। वह पैदाइश की बात होती। कोई पैदाइश से धार्मिक नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म का कोई संबंध आपकी खून और हड्डियों से नहीं है और आपकी मांस और मज्जा से नहीं है। और एक अधार्मिक और एक धार्मिक आदमी के शरीर अगर काटे जाएं, उनके खून और मांस और मज्जा से तय न हो सकेगा कि कौन धार्मिक था और कौन अधार्मिक। जन्म तो केवल देह का है। उस देह के जन्म से कोई धार्मिक नहीं होता। इसलिए यह भ्रम छोड़ दें अपने मन से कि कोई किसी धर्म में पैदा हो गया है तो धर्म का हो गया है। धर्म में कोई पैदा नहीं होता।
धर्म में तो अपने ही स्वयं के प्रयास से प्रवेश करना होता है। धर्म
में अपने आप कोई पैदा नहीं होता। धर्म को तो अपने भीतर पैदा करना होता है। आप का जन्म धर्म में नहीं हो सकता, धर्म का जन्म आपमें हो सकता है। आप आमंत्रित कर सकते हैं धर्म को। और मैंने कहा कि धर्म का जन्म इस बोध से होता है कि आपके भीतर कोई नित्य तत्व उपस्थित है, मौजूद है। जब तक यह बोध न हो तब तक कोई अपने ऊपर व्यर्थ की वंचना न ढांके कि वह धार्मिक है। और किन्हीं सस्ते उपायों से कि मंदिर की पूजा से कि दो-चार पैसे दान कर लेने से कि वर्ष में कभी दो-चार दिन उपवास कर लेने से, कोई इस झूठे दंभ को न पाले कि वह धार्मिक हो गया। ये दंभ को पालने के बड़े सस्ते उपाय हैं, इनका इससे ज्यादा कोई मूल्य नहीं है। धार्मिक होना बड़े दुस्साहस की, बड़े हिम्मत की, बड़े प्रयास की, बड़ी सतत चेष्टा की बात है। धार्मिक होना एक बड़ी उपलब्धि है। और वह उपलब्धि तभी संभव हो सकती है, जब इस मिट्टी की देह के भीतर उसका बोध हो जाए जो कि मिट्टी नहीं है।
इस मिट्टी के दीये के भीतर उसका बोध हो जाए, जो ज्योति है तो आप धार्मिक हुए, तो धार्मिक जीवन में अग्रसर हुए। उस धारा में आपन्न हुए, उस स्रोत में समाविष्ट हुए, उस अनंत-अनंत स्रोत के अंग बनें। जिसकी अनंत-अनंत काल से जाग्रत पुरुषों की जिसकी परंपरा है। उस दिन फिर आप धार्मिक होकर एक ही साथ सब हो जाएंगे। एक ही साथ सब हो जाएंगे, धार्मिक होकर आप क्रिश्चियन हो जाएंगे। क्योंकि वह करुणा जो क्राइस्ट में है, आपमें उत्पन्न हो जाएगी। धार्मिक होकर आप जैन हो जाएंगे, क्योंकि वह जैनत्व, वह विजय इंद्रियों पर और शरीर पर आत्मघटित हो जाएगी जो जैन में होनी चाहिए। और आप इस्लाम के हिस्से हो जाएंगे और वह शांति और भ्रातृत्व आपमें पैदा हो जाएगा, उस ज्योति के अनुभव से, जो मनुष्य में होना चाहिए। जो आदमी धार्मिक है, उसी क्षण वह सब धर्म उसके हो गए। क्योंकि सब कोई धर्म नहीं है एक ही धर्म है। वह सारे धर्म उसके हो गए।
अगर महावीर को, कोई क्राइस्ट से पूछे कि क्या महावीर क्रिश्चियन हैं? मैं समझता हूं क्राइस्ट कहेंगे, उनसे बेहतर क्रिश्चियन खोजना कठिन है। अगर कोई महावीर से पूछे कि क्या क्राइस्ट जैन हैं? तो महावीर कहेंगे, उनसे

बेहतर जैन को खोजना मुश्किल है। जो भी आदमी धार्मिक है, वह तत्क्षण सब धर्मों का हो गया। सब धर्मों का इसलिए हो गया कि सब कोई धर्म नहीं है, धर्म एक ही है। उस शाश्वत चैतन्य को अनुभव कर लेना धर्म है। उसके अनुभव के बाद जीवन अपने आप धार्मिक हो जाता है। धार्मिक होने से उसका अनुभव नहीं होता, उसके अनुभव होने से जीवन धार्मिक हो जाता है। जो उस चैतन्य को अनुभव करेगा उसे असत्य बोलना असंभव हो जाएगा। असत्य किससे बोलेगा, अपने को ही सभी दीयों के भीतर जलता हुआ अनुभव करेगा। असत्य किससे बोलेगा, अपने को ही सबके भीतर प्रतिबिंबित, प्रतिफलित पाएगा। अपनी धुन को ही सारे घरों में गूंजता हुआ अनुभव करेगा। अपने को ही उपस्थित पाएगा अनेक-अनेक रूपों में--झूठ, असत्य किससे बोलेगा। परिग्रह किसलिए करेगा। अब जानता है कि अपनी प्रतिष्ठा के लिए न पदों की जरूरत है, न धन की जरूरत है। अब जानता है कि अपनी सुरक्षा के लिए किसी साधन की, किसी सामग्री की जरूरत नहीं है। क्योंकि जानता है अपनी कोई असुरक्षा, अपनी कोई इनसिक्योरिटी ही नहीं है। अब जानता है कि अपनी रक्षा की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि भीतर जो है वह स्वयं रक्षित है और अपनी प्रतिष्ठा की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि भीतर जो है वह स्वयं प्रतिष्ठित है, अब वह कैसे परिग्रह करेगा और किसलिए परिग्रह करेगा। अब वह अब ब्रह्मचर्य से कैसे भरेगा, किसके प्रति भरेगा, सभी तरफ वही है। सभी तरफ शायद उसके लिए करीब-करीब सारी देह आईने और दर्पण बन गई हैं, जिनमें वह अपने को ही देखता है और उपलब्ध पाता है।
ऐसा व्यक्ति जिसने आत्मा को अनुभव किया, अनिवार्यतः उसके जीवन में अहिंसा के, सत्य के, प्रेम के, करुणा के, अपरिग्रह के, ब्रह्मचर्य के फूल अपने आप पैदा हो जाएंगे। धर्म की अनुभूति उसको चारों तरफ जीवन में धार्मिक बना देगी।
इनकी चेष्टाएं नहीं करनी होती हैं, कोई चेष्टा नहीं करता है कि अहिंसा और सत्य और प्रेम आ जाए, चेष्टा से वे आते भी नहीं। और चेष्टित प्रेम का मूल्य भी क्या होगा, वह अभिनय होगा। अगर मैं कोशिश करूं आपको प्रेम को करने की, तो अभिनय होगा। मुझसे प्रेम बहे, वह वास्तविक होगा। अहिंसा चेष्टित हो, मिथ्या हो, अहिंसा सहज प्रवाहित हो, वास्तविक हो। सत्य चेष्टित हो झूठा होगा। अपने आप सहज स्पंदित हो, वास्तविक होगा। जीवन में धार्मिकता होगी, अगर भीतर आत्मा का अनुभव होगा। आत्मा का अनुभव जीवन का अनुभव है। आत्मा को जानना जीवन को जानना है। और जो उसे जान लेगा उसके जीवन में संगीत ही संगीत और आनंद ही आनंद और नृत्य ही नृत्य व्याप्त हो जाएगा। उसके भीतर कहीं दुख की कोई प्रतिध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ेगी। यह जो मैं कह रहा हूं आपसे, यह ऐसे नहीं कह रहा हूं कि मुझे कोई यह विचार मालूम होता है। ऐसे ही नहीं कह रहा हूं कि यह कोई अच्छी बात मालूम होती है या कोई तार्किक बात मालूम होती है। इतना साफ मुझे दीखता कि इससे ज्यादा साफ और कोई चीज नहीं दिखती है। आप मुझे जो यहां मौजूद हैं, आपकी देह जितनी मौजूद मालूम होती है उससे कहीं ज्यादा मौजूद वह ज्योति मालूम होती है जिसकी मैं बात कर रहा हूं। आपकी आंखों से, आपके स्पंदन से, आपकी सारी हरकतों से उस जीवन का अनुभव होता है जो भीतर मौजूद है। और एक बार भी आपकी देह पारदर्शी हो जाए और एक दफा ट्रांसपेरेंट हो जाए और हम उसके भीतर झांक सकें। यह सारा जगत जीवन की ज्योतियों से भरा हुआ अनुभव होता है।
जो अपने भीतर जीवन को जान लेगा वह सब तरफ जीवन को अनुभव कर लेगा। इसी जीवन की स्वीकृति, महावीर की अहिंसा में प्रकट हुई है। अहिंसा का अर्थ है, मैंने सबके जीवन को स्वीकार कर लिया। हिंसा का अर्थ है, मैं किन्हीं के जीवन को स्वीकार नहीं करता और उनके जीवन को समाप्त करने को राजी हूं। हिंसा का अर्थ है, मैं किन्हीं के जीवन को स्वीकार नहीं करता और अपने जीवन के लिए उनको समाप्त करने को राजी हूं। अहिंसा का अर्थ है मैंने सबके जीवन को स्वीकार कर लिया।
सबके भीतर जीवन का मुझे अनुभव हुआ। आत्म अनुभव का यह परिनमन अहिंसा है। जीवन अनुभव हो सकता है क्योंकि है, क्योंकि मौजूद है। सिर्फ देह से थोड़ा सरकना होगा, देह से थोड़ा पीछे आना होगा। धारा थोड़ी उलटी बहानी होगी,

जीवन-मरण देह की तरफ बहते हैं। साधना में हमें देह से, चैतन्य की तरफ प्रवाहित होना होगा। जो चीजें हमें जड़ता की तरफ ले जाती हैं, उनसे मुक्त करना होगा। और चैतन्य की तरफ ले जाती हैं, उनकी तरफ प्रवाहित होना होगा। देह और आत्मा के बीच, अभी हम देह की तरफ प्रवाहित हैं, साधना में हमें चैतन्य की तरफ प्रवाहित होना है। और हमें वह करना होगा जिससे चैतन्य जगता है और वह छोड़ देना होगा जिससे जड़ता आती है। आप कभी देखें यह अनुभव करें, किन-किन चीजों से आपके भीतर चैतन्य जगता है। और किन-किन चीजों से आपके भीतर जड़ता आती है। जिन-जिन चीजों को धर्मों ने पाप कहा है, वह आपके भीतर जड़ता को पैदा करते हैं। जिन-जिन चीजों को धर्म ने पाप कहा है, वह आपके भीतर आपके शरीर को प्रगाढ़ करते हैं और आपकी चेतना को विलिप्त करते हैं। और जिन-जिन चीजों को धर्म ने पुण्य कहा है, वह आपके भीतर चैतन्य को आविष्कृत करते हैं। और जड़ को विस्मृत करते हैं, उदाहरण के लिए आप क्रोध में होते हैं, तब आप जड़ हो जाते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं। और जब आप शांति में होते हैं तब आप चैतन्य में हो जाते हैं। जड़ता से, मूर्च्छा से मुक्त हो जाते हैं।
जब कोई व्यक्ति किसी की हिंसा करता है, हत्या करता है तब बिल्कुल जड़
और मूर्च्छित हो जाता है। तब वह अपने वश में अपने होश में नहीं होता और जब कोई व्यक्ति किसी को बचाने के लिए अग्नि में कूद पड़ता है, तब वह बड़े चैतन्य के अनुभव को उपलब्ध होता है। जब भी जो-जो चीजें आपके भीतर चैतन्य को विकसित करती हैं और प्रतिष्ठित करती हैं, उनका निरंतर प्रयोग करने से आप धीरे-धीरे शरीर से प्रवाह चेतना की तरफ होता है। एक दिन ऐसी स्थिति आ जाती है कि आप देह में होते हैं, लेकिन विदेह हो जाते हैं। देह होती है लेकिन आपको देह का कोई पता नहीं होता।
एक छोटी सी घटना और मैं अपनी चर्चा को पूरा करूंगा।
एक साधु का मुझे स्मरण आता है। उसके आश्रम में एक युवक दीक्षित हुआ। तीन वर्ष बीते, उस साधु ने उसकी तरफ आंख भी उठा कर नहीं देखा। जब भी वह आकर कुछ पूछता, वह साधु आंख नीची कर लेता। कुछ भी पूछता, हां और न में उत्तर दे देता, कभी बात को आगे न बढ़ाता। युवक बहुत हैरान था। सबसे बात करता, सबकी तरफ आंख उठाता, इसके प्रति क्या बात थी? आंख भी न उठाता, आंख से कभी देखता भी नहीं। तीन वर्ष बीते, एक दिन युवक बगीचे से निकलता था, साधु अपनी कुटी में था, उसने आंख उठा कर युवक को भर आंख देखा। वह तो कृत्य-कृत्य हो गया, वह तो प्रफुल्लित हो गया। लेकिन जैसे ही वह प्रफुल्लित हुआ, साधु की आंख वापस नीचे झुक गई। युवक बहुत हैरान हुआ। लेकिन हैरान ही हो सकता था। फिर तीन वर्ष बीते, उस साधु ने उसे आंख उठा कर नहीं देखा। तीन वर्ष बाद वह तो धीरे- धीरे भूल भी गया था। यह उसकी आदत का हिस्सा हो गया था। एक दिन उसने देखा साधु उसे देख कर मुस्कुराया है। एकदम से अवाक रह गया कि वह आदमी छह वर्षों के बाद मुस्कुराया, पहली दफा संबंध जाहिर किया। पहली दफा स्वीकृति दी है। पहली दफा प्रेम का एक नाता दिया है, तो अवाक खड़ा रह गया कि आज यह संभव कैसे हुआ? छह वर्ष की इस अंधेरी रात के बाद अचानक यह सूरज कैसे? वह अवाक खड़ा था कि साधु की मुस्कुराहट बुझ गई। फिर और तीन वर्ष बीते--न उसने देखा, न वह मुस्कुराया। युवक धीरे-धीरे भूल ही गया। भूल ही गया कि साधु भी है। भूल ही गया कि कोई नीचे भी देखता है, अपनी तरफ नहीं देखता। भूल ही गया कोई मुस्कुराता नहीं, कभी इशारे नहीं करता संबंध के, प्रेम के, भूल ही गया कोई है भी।
तीन वर्ष बीते, एक दिन साधु ने उसे रोका, उसके कंधे पर हाथ रखा, उसकी तरफ देखा, उसकी तरफ मुस्कुराया, उससे कुछ बोला। वह साधु बोलाः आज मैं इतना प्रसन्न हूं, आज मैं तुमसे बोल कर इतना प्रसन्न हूं और तुम्हें बता दूं कि नौ वर्ष मैंने तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया। जब तुम आए थे, तुम इतने उत्सुक थे कि तुम्हारी देह को कोई देखे। तुम इतने उत्सुक थे कि तुम्हारी देह को कोई देखे कि मैं डरा कि देखना ठीक नहीं, क्योंकि तुम्हारी देह को कोई देखे, इससे जो प्रसन्नता होती है, वह जड़ता लाती है।
तुम देह की तरफ, देह की तरफ प्रवाहित होते हो। हम सब चाहते हैं कि देह
को हमारी कोई देखे। हम सब चाहते है कि कोई हमें देखे। क्या है आप में देखने

को? क्या है किसी में देखने को? अपनी ही देह को बहुत गौर से देखें, कुछ भी देखने योग्य मालूम नहीं पड़ेगा। और अगर आपकी ही आंख में अपनी देह में कुछ देखने योग्य मालूम नहीं पड़ता, तो दूसरों की आंखों को कष्ट देने की कौन सी जरूरत है? और अगर आपको अपनी ही देह में कुछ देखने योग्य मालूम नहीं पड़ता, तो दूसरों की देहों में आंख गड़ाने की भी कौन सी जरूरत है? वहां भी कुछ न होगा।
उस साधु ने कहाः मैंने नहीं देखा, क्योंकि तुम बड़े उत्सुक थे कि कोई देखे। तुम बड़े उत्सुक थे कि... से भी मिले। कोई देखे और... सूत्र भी मिले। तुम हो, यह दिखाना चाहते थे। तुम हो, यह जनाना चाहते थे। तुम कुछ विशिष्ट हो और केंद्रीभूत हो, यह अनुभव करना चाहते थे। इस डर से मैंने तुम्हें देखा भी नहीं अपने को रोका। उस दिन सिर्फ देखा था तीन वर्ष बाद, सोचा था कि शायद अब तुम्हें यह भूल गया होगा। लेकिन देखते ही तुम इतने प्रसन्न मालूम हुए और मैं डर गया और मैंने आंख नीची कर ली। तुम पानी की तरह तो हो गए थे, थोड़े तरल, तो थोड़े लिक्विड तो हो गए थे। लेकिन अभी हवा की तरह नहीं हुए थे। अभी पानी की तरह तो हो गए थे कि बहने लगे थे, लेकिन हवा की तरह विरल नहीं हुए थे कि उड़ने लगो। मैं डर गया। तीन वर्ष बाद तुम्हें देख कर मुस्कुराया था। सोचा था अब क्या होता है, तुममें पहले जैसी खुशी तो पैदा नहीं हुई। तुम खुश तो नजर नहीं आए थे, लेकिन अवाक रह गए थे। तुम्हारे मन में प्रश्न उठा था कि मैं क्यों मुस्कुरा रहा हूं। अब तुम पानी की तरह तो नहीं रह गए थे, हवा की तरह विरल हो गए थे। खुशी तो तुम्हें नहीं हुई थी लेकिन प्रश्न उठा था। थोड़ी सी अड़चन और थी पानी नीचे की तरफ बहता है, तरल होता है। हवा सब तरफ बहती है विरल होती है। लेकिन तुम अभी अग्नि की तरह नहीं हुए थे कि ऊपर की ही ऊपर की ही तरफ उठ सको। मैं और रुका अभी तुममें कुछ बंद शेष था जो प्रश्न बन गया था। पहली दफा बहुत प्रगाढ़ था तो प्रसन्नता बन गया था। दूसरी तरफ थोड़ा ही शेष था तो प्रश्न बन गया था। मैं रुका और तीन वर्ष और बीतें। आज तुम्हें पास बिठा कर बात कर रहा हूं। आज तुम्हें देख कर हंस रहा हूं आज तुमसे प्रीति से बात कर रहा हूं। तुम्हारे कंधे पर हाथ रखे हूं और तुम मुझे ऐसे देख रहे हो जैसे मैं किसी और से बात कर रहा हूं। उस साधु ने कहा आज मैं तुम्हारे पास तुम्हारे कंधे पर हाथ रख कर बात कर रहा हूं। और तुम मुझे ऐसे देख रहे हो जैसे मैं किसी और से बात कर रहा हूं। आज मैं खुश हूं, आज तुम अग्नि की तरह हो गए। आज तुम्हारे भीतर अब वही केवल तुम्हें अनुभव हो रहा है, जो अग्नि की तरह है और निरंतर ऊर्ध्वगामी है। मनुष्य में पदार्थ है जो निम्नगामी है। पदार्थ नीचे गिरता है।
मनुष्य के भीतर चैतन्य है--जो अग्नि है, ऊर्ध्वगामी है। अग्नि ऊपर की तरफ उठती है। मनुष्य मिट्टी का और अग्नि का जोड़ है। मनुष्य मिट्टी का दीया है और अग्नि की ज्योति है। मिट्टी मृत्यु है। वह अग्नि की ज्योति जीवन है। जो मिट्टी के दीये को ही अपना होना समझेगा उसे जीवन उपलब्ध नहीं हो सकता। और जो अग्नि की ज्योति को अपना होना समझेगा उसे जीवन उपलब्ध हो जाएगा। जो उसे अनुभव करेगा उसे जीवन उपलब्ध हो जाएगा। जीवन-दर्शन मेरी दृष्टि में ऐसा कुछ है, ऐसा कुछ है कि मिट्टी की इस देह के भीतर हमें अमृत चैतन्य का अनुभव हो सके। ईश्वर करे यह प्यास जगे आपके भीतर, प्यास जगे कि हम मिट्टी की जगह उस अग्नि को भी जान लें जो निरंतर ऊपर से ऊपर उठती है, ऊर्ध्वगामी है। यह प्यास जगे, यह प्यास तीव्र हो। कोई भी वजह नहीं है इस दुनिया में, कोई ताकत आपको उसे अनुभव करने से रोक नहीं सकेगी। क्योंकि जो निरंतर भीतर है उसे अनुभव कर लेना सरल है।
मनुष्य दूर-दूर की इतनी विजय कर लेता है, दूर के साम्राज्य जीत लेता है, पहाड़ियों पर गौरीशंकर की पताकाएं गाड़ देता है, चांद-तारों पर अपने निवास बना लेता है, समुद्र की गहराइयों में जाएगा और आकाश के कोनों को छान डालेगा। जो मनुष्य इस विस्तीर्ण जगत में दूर-दूर अपनी विजय के चिह्न बना देगा, हस्ताक्षर कर देगा, वह मनुष्य क्या अपने भीतर विजय की पताका नहीं गाड़ सकता है? क्या वह मनुष्य वहां हस्ताक्षर नहीं करेगा? निश्चित-निश्चित कर सकता है। मनुष्य की सामर्थ्य अपरिसीम है, लेकिन जीवन अल्प है। मनुष्य

की सामर्थ्य अपरिसीम है, लेकिन जीवन अल्प है। सामर्थ्य बहुत है कि हम अपने भीतर विजय के चिह्न बना दे। लेकिन जीवन अल्प है। इसलिए जब समय रहते चेत जाता है वह अपने भीतर विजय को उपलब्ध हो जाता है। और जो समय रहते नहीं चेतता, वह व्यर्थ हो जाता है। और उसकी सारी जीवन की सामर्थ और सरिता मरुस्थल में विलीन हो जाती है। वह फल को सार्थकता को उपलब्ध नहीं होती। आपकी सरिता जीवन की ऐसी मरुस्थल में विलीन न हो। इसी उद्यान में, उस सरिता में फूल आ जाएं, यह मैं कामना करता हूं।

मेरी इन बातों को इतने प्रेम से, इतने शांत होकर कि आपको जैसे भूल ही गया कि आप मिट्टी की देह हो। और मुझे थोड़ी देर में लगने ही लगा कि आप सबके भीतर एक ज्योति जल रही है और आप सब ज्योति के दीये हो। यहां लोग मिट गए और अग्नि का प्रवाह मेरे लिए हो गया। इतने प्रेम से सुना, उसके लिए बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। परमात्मा करे आपकी ज्योति रोज से रोज ऊपर उठे, एक दिन आप मिट्टी के दीये बिल्कुल न रह जाएं, यही कामना है। मेरी इस कामना को स्वीकार करें।

पथ की खोज
पांचवां प्रवचन

पथ की खोज

मेरे प्रिय!
मैं एक गहरे अंधेरे में था, फिर मुझे सूर्य के दर्शन हुए और मैं आलोकित हुआ। मैं एक दुख में था, फिर मुझे आनंद की सुगंध मिली और मैं उससे परिवर्तित हुआ। मैं संताप से भरा था और आज मेरी श्वासों में आनंद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
मैं एक मृत्यु में था--मैं मृत ही था और मुझे जीवन उपलब्ध हुआ और अमृत
ने मेरे प्राणों को एक नये संगीत से स्पंदित कर दिया। आज मृत्यु मुझे कहीं भी दिखाई नहीं देती। सब अमृत हो गया है। और सब अनंत जीवन हो गया है।
अब एक ही स्वप्न देखता हूं कि वही आलोक, वही अमृत, वही आनंद, आपके जीवन
को भी आंदोलित और परिपूरित कर दे, जिसने मुझे परिवर्तित किया है। वह आपको भी नया जन्म और जीवन दे, जिसने मुझे नया कर दिया है। उस स्वप्न को पूरा करने के लिये ही बोल रहा हूं और आपको बुला रहा हूं। यह बोलना कम, बुलाना ही ज्यादा है।
जो मिला है, वह आपको देना चाहता हूं। सब बांट देना चाहता हूं। पर बहुत कठिनाई है। सत्य को दिया नहीं जा सकता, उसे तो स्वयं ही पाना होता है। स्वयं ही सत्य होना होता है। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं; पर मैं अपनी प्यास तो दे सकता हूं, पर मैं पुकार तो दे सकता हूं और, वह मैं दूंगा और आशा करूंगा कि वह पुकार आपके भीतर--आपके अंतस में प्यास की एक ज्वाला बन जायेगी और आपको उन दिशाओं में अग्रसर करेगी, जहां आलोक है, जहां आनंद है, जहां अमृत है।
मनुष्य दुख के लिये पैदा नहीं हुआ। जीवन दुख के लिये नहीं है। दुख जीवन की सार्थकता नहीं हो सकता और न दुख जीवन का अंत हो सकता है। दुख तो इसलिये है कि जीवन उसे उपलब्ध नहीं कर पा रहा है, जिसे उपलब्ध करने को वह है। जो उसकी अंतर्निहित संभावना है, उसे न पाने से दुख है। दुख दुर्घटना है, वह अंत नहीं है। बीज वृक्ष न हो पाये तो उसे जैसा दुख घेर लेगा वैसा ही दुख मनुष्य को घेर लेता है।
क्या दुख का बोध और दुख का अतिक्रमण, ट्रान्सेन्ड करने की आकांक्षा
यह नहीं बताती है कि वह हमारे स्वरूप का अंग नहीं है? क्या दुख का अस्वीकार यह नहीं कहता है कि जो हमारे भीतर है, वह दुख नहीं, दुख-निरोध का प्यासा है? आनंद की प्यास, आनंद की संभावना और सिद्धि की सूचना है। जीवन आनंद को मांगता है--समस्त जीवन आनंद को मांगता है। क्यों? क्योंकि जीवन की सफलता और सार्थकता और पूर्णता आनंद में है। आनंद अर्थ है। आनंद अंत है। आनंद अभिप्राय है। वह जो अभी प्यास में है, जब तक प्राप्ति न बन जावे, तब तक दुख है--तब तक दुख अनिवार्य है।
स्मरण रहे कि आनंद को पाने की बात आपका विचार नहीं है। उसे आपने विचारा नहीं है। किसी से सीखा नहीं है। वह अनसीखी, अनलर्न्ड अभीप्सा है। वह निसर्ग में है। वह आपके प्राणों में है। वह आपका होना, व्हेरि बीइंग है। वह विचार नहीं, प्यास है। यह स्मरण रहे कि वह प्यास है। इस प्यास से ही धर्म का जन्म हुआ है। आनंद की प्यास धर्म की जन्मदात्री है। धर्म का जन्म किसी सोच-विचार से नहीं हुआ। वह चिंतन नहीं है। उसकी स्फुरणा अनंत आनंद की प्यास से हुई है। वह प्यास प्रत्येक के भीतर है। प्रत्येक के प्राणों में उस प्यास की लपटें हैं। उन्हीं प्रज्वलित लपटों से धर्म जन्मता है और रूप लेता है।
इसलिये यह हो सकता है कि सारे तीर्थंकर, सारे अवतार, सारे ईश्वर-पुत्र, सारे पैगंबर भूल जावें, विस्मृत हो जावें... हमारी स्मृति में उनकी कोई भी ध्वनि बाकी न रहे, वे सब "न-हुए" हो जावें और अतीत के चरण चिह्न समय की राह पर धुंधले होकर मिट जावें--पर इससे धर्म नहीं मिट सकता, उनके कारण धर्म नहीं है। विपरीत, वे ही धर्म के कारण थे।

50

यह हो सकता है कि सारे मंदिर और मस्जिदें और शिवालय धूल-धूसरित हो जावें। उनके खंडहरों के भी निशान खोजे न मिलें। और सारे शास्त्र और आगम विलीन हो जावें, लेकिन धर्म विलीन नहीं होगा। वह उनके कारण नहीं है। वह तो जब तक अंतस आनंद के लिये प्यासे होते रहेंगे तब तक रहेगा और मिट-मिटकर भी पुनर्जीवित हो जायेगा। इस अर्थ में वह शाश्वत है। क्योंकि, आनंद की आकांक्षा शाश्वत है। क्योंकि अमृत की अभीप्सा शाश्वत है। दुख कभी भी नहीं चाहा जा सकता है। बंधन कभी भी नहीं चाहे जा सकते हैं। अज्ञान कभी भी नहीं चाहा जा सकता है। अंधकार के लिये हमारी आत्मा कभी भी प्यासी नहीं हो सकती है। इसलिये धर्म शाश्वत है।
धर्म आवृत्त हो सकता है, पर नष्ट नहीं। धर्म विस्मृत हो सकता है, पर विनष्ट नहीं। हम उसके प्रति सो सकते हैं, पर उसे सदा के लिये खो नहीं सकते। उसकी जड़ें हमारी आत्मा में हैं और इसलिये उसे खो-खोकर भी पुनः-पुनः पा लिया जाता है। उन जड़ों में से फिर नये अंकुर निकल आते हैं और नये फल और बीज लगने शुरू हो जाते हैं।
वस्तुतः जो भी सत्य है, उसे खोना असंभव है। जो भी सत्य है, वह शाश्वत
भी है। और जो भी शाश्वत है, वह सत्य भी है। धर्म सत्य है, इसलिये शाश्वत है।
धर्म शाश्वत है, इसलिये सत्य है। शाश्वतता, इटरनिटी और सत्य, शब्द ही दो हैं। उनमें निहित सत्य एक ही है।
मैं धर्म की बात कर रहा हूं। मैं संप्रदायों की बात नहीं कर रहा हूं। संप्रदाय धर्म नहीं हैं। वे धर्म की अभिव्यक्तियां हैं, स्वयं धर्म नहीं। वे धर्म के शरीर हैं, धर्म की आत्मा नहीं। वे होते हैं और "न" भी हो जाते हैं। जिसका जन्म होता है, स्वाभाविक है कि उसकी मृत्यु भी हो। जिसका जन्म नहीं होता वही केवल अमृत हो सकता है। अजन्मा ही अमृत हो सकता है। धर्म अजन्मा है; पर संप्रदायों का जन्म होता है। वे जन्मते हैं और संगठित होते हैं। और इसलिये उनकी मृत्यु और विघटन भी अनिवार्य है। इस सत्य का न दीखना बहुत घातक हो गया है। मृत संप्रदायों का बोझ हमें इतना निर्भार और निर्दोष नहीं होने देता कि हम शाश्वत धर्म से परिचित हो सकें। उनकी मृत देहें, लाशें ही धर्म की आत्मा को जानने और जीने में अवरोध बन जाती हैं। जो धर्म को जानना चाहता है, उसे संप्रदाय से ऊपर उठना होता है। वैसे ही, जैसे जो मुझे जानना चाहे उसे मेरी देह के पार और अतीत देखना होगा। जो मेरी देह पर रुक जायेगा, वह मुझ तक नहीं पहुंच सकता। मैं शरीर में हूं, पर शरीर नहीं हूं। शरीर मेरा आवरण है, "मैं" नहीं। ऐसा ही संप्रदायों के साथ है। वे सब शरीर हैं। धर्म को जानने के लिये उनसे मुक्ति आवश्यक है। उनके पार हुए बिना कोई उसे--उस धर्म को नहीं जान पाता; जो हो तो संप्रदाय जीवित होते हैं, जो नहीं हो तो वे मृत हो जाते हैं।
संप्रदायों के संबंध में नहीं, धर्म के संबंध में ही--विशुद्ध धर्म के संबंध में ही कुछ कहना चाहता हूं। उस धर्म के संबंध में, जिसका कोई भी विशेषण नहीं है--धर्म की आत्मा के संबंध में। धर्म संप्रदायों के ऊपर है, पीछे है और उनका प्राण भी है। और जो अनुपस्थित हो जाये तो वे केवल मुर्दा लाशें रह जाती हैं। और जिसके अभाव में, संप्रदायों की अंत्येष्टि के सिवाय विवेक के पास और कोई चारा नहीं रह जाता है।
काश, हम जान पावें कि संप्रदायों के नाम से जो प्रचलित धर्म है वह कितना मृत है, तो जीवित धर्म की दिशा में हमारे चरण सहज ही गतिमान हो सकते हैं।
मैं अभी यात्रा में था। कोई पूछता था कि मेरा कौन-सा धर्म है? मैं क्या कहता? मैंने कहा, "धर्म मेरा है। मैं धर्म का हूं। और धर्म एक ही है। अनेक धर्म नहीं हैं, इसलिये अपने को किसका बताऊं?"
आज सारी जमीन पर ऐसा हुआ है। धर्म नहीं, "कोई धर्म" विचारणीय बन गया है। यह बहुत अनर्थ बात है--बहुत बेहूदी बात है। इसके कारण धर्म विचार के बाहर ही रह जाता है। इसलिये, इतने धर्म-संप्रदाय हैं, इतने मंदिर, इतने पूजागृह, इतने शास्त्र कि चित्त की सारी भूमि उनसे भरी हुई है। पर धर्म कहां है?

शायद हमने धर्म के लिये अवकाश, स्पेस ही नहीं छोड़ा है। चित्त में स्थान ही नहीं है, जहां धर्म हो सके। यह बड़ी दुर्दशा है। इससे हम बिना धार्मिक हुए, धार्मिक होने के भ्रम में पड़ जाते हैं। सांप्रदायिक होना, धार्मिक होना नहीं है। उन दोनों में संगति नहीं, विरोध है। किसी सिद्धांत को, किसी शास्त्र को, किसी संप्रदाय, क्रीड को मानना और धार्मिक होना बड़ी भिन्न बातें हैं। संप्रदाय एक बौद्धिक आग्रह मात्र है। धर्म समग्र चैतन्य की क्रांति है। वह बौद्धिक आग्रहों, सिद्धांतों और विचारों से नहीं होती, वरन उसका आगमन तो तब होता है, जब बुद्धि पूर्ण निराग्रह और निष्पंद होती है।
मैं आपको देख रहा हूं। आपकी आंखों में देख रहा हूं। आपके मस्तिष्क में सरक रहे विचारों की पदध्वनियां मुझे सुनाई पड़ रही हैं। मस्तिष्क तो आपका भी बहुत सिद्धांतों को जानता है। बहुत शास्त्र और बहुत शब्द वहां कोलाहल कर रहे हैं। उनकी खूब भीड़ वहां है। धर्म के संबंध में, सत्य के संबंध में, परमात्मा के संबंध में सीखे गये सिद्धांत आपकी स्मृति में भरे हुए हैं। लेकिन क्या इससे धर्म का दूर का भी संबंध है? क्या यह "स्मृति- भार" धर्म है? क्या ये सीखे हुए सिद्धांत धर्म हैं? क्या इनसे आप आनंद और आलोक को उपलब्ध हुए हैं?
मुझे पूछने की आज्ञा दें कि क्या आपके तथाकथित धर्म-संप्रदाय, विश्वास और मान्यतायें आपकी चेतना में कोई आमूल क्रांति, ट्रांसफार्मेशन उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं? उनसे आप भर गये होंगे, लेकिन क्या बदले भी हैं?
मैं आपके जीवन में कोई आनंद-किरण नहीं देख रहा हूं। किसी आलोक का स्पर्श वहां नहीं दिखाई पड़ता। आपकी अंतरात्मा किसी भी संगीत से परिप्लावित नहीं मालूम होती। आपकी आंखें अंतस में उपलब्ध हुई किसी सौंदर्य अनुभूति, किसी सत्य-सान्निध्य की गवाही नहीं देतीं। सिद्धांतों और संप्रदायों से आप भरे होंगे, पर सत्य से क्या अभी वंचित नहीं हैं? संप्रदायों और सिद्धांतों में आप घिरे होंगे, पर धर्म ने अभी आपको मुक्त नहीं किया है।
धर्म का जीवन में जब स्पर्श होता है, तब वैसे ही सब बदल जाता है, जैसे सुबह सूरज के आगमन पर। अगर कोई कहे कि सुबह हो गयी और घना अंधेरा है, तो हम क्या कहेंगे? अगर कोई कहे कि सूरज निकल आया और चारों ओर निबिड़ रात्रि है और आकाश में तारे हैं, तो हम क्या कहेंगे?--कि सूरज अभी नहीं निकला, अंधेरा सूरज की अनुपस्थिति का काफी प्रमाण है।
ऐसा ही आज मनुष्य के साथ हुआ है। धर्म से उसका संस्पर्श क्षीण हो गया है। धर्म के विचार हैं, धर्म-शास्त्रों से संबंध है, धर्म-संप्रदायों से नाता है, पर धर्म से संपर्क नहीं है। और इसका काफी प्रमाण है वह अंधकार, जो हमारी चेतनाओं पर छाया हुआ है। इसका काफी प्रमाण है वह दुख, वह पीड़ा, वह संताप, एंग्विश जिसमें हम डूबे हुए हैं। मनुष्य क्या एक अर्थहीन, अर्थशून्य, मीनिंगलेस इकाई नहीं हो गया है?
यह मैं आपसे कह रहा हूं--किसी और वाष्पीय मनुष्य के संबंध में नहीं, आपके संबंध में कह रहा हूं। क्या, जो मैं कह रहा हूं, वह आपके संबंध में सच नहीं है? उसके सत्य को देखें--अपने में देखें। क्या आपको अपने भीतर कोई कृतार्थता और सार्थकता दिखाई पड़ती है? क्या भीतर वह दिखाई पड़ता है, जिसके कारण जीवन शांति और संगीत हो गया हो? क्या उसके दर्शन कहीं होते हैं, जिसके कारण मात्र जीना, केवल जीना, जस्ट लिव्हिंग भी एक अर्थ से भर जाता है और श्वास-श्वास में कृतार्थता का बोध होने लगता है?
वह तो कहीं नहीं है। विपरीत उसकी जगह एक रिक्तता, एम्पटीनेस है, एक अंधकार, डार्कनेस है, एक अत्यंत ऊब पैदा करने वाला खालीपन है और एक उदासीनता है, जैसी कब्रों के आसपास होती है। और इस रिक्तता और उदासी के कारण ही हम सब किसी भांति, कहीं भी अपने को उलझाये रखना चाहते हैं। इसके कारण ही कोई भी अकेला नहीं होना चाहता और हम सब अपने से ही भागे रहते हैं।

देखें--क्या हमारा जीवन--हमारा सारा जीवन अपने से ही भागने का एक ऐसा
ही लंबा उपक्रम नहीं है? क्या यह जीवन है? क्या इसे जीवन कहियेगा? मित्र! यह जीवन नहीं, पलायन है। यह पलायन, एस्केप से ज्यादा कुछ भी नहीं है।
मैं एक समय एक मरणासन्न व्यक्ति के पास था। उस घर में जैसा अंधकार, उदासी और दुख अनुभव हुआ था--उस घर के वातावरण में जैसा संताप अनुभव हुआ था--वैसा ही मुझे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर दिखाई पड़ता है। यह कैसी स्थिति है? पर शायद ऐसा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि मनुष्य जीवन के मूल-स्रोत से विच्छिन्न हो गया है।
धर्म से विच्छिन्न जो युग होता है--जो मनुष्य होता है, वह आनंद में नहीं हो सकता। स्व-सत्ता से जो विच्छिन्न होता है, उसका सब छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसके सब जीवन-सूत्र और अर्थ खो जाते हैं। और उसके चित्त के द्वार पर अर्थहीनता खड़ी हो जाती है। उसकी दिशा खो जाती है और चलना एक ऊब, बोरडम और क्लांति हो जाती है। क्योंकि उसे कहीं पहुंचना तो नहीं है; बस, चलना ही है। अर्थ-शून्य और उद्देश्यविहीन चलना सार्थक कैसे हो सकता है?
धर्म गंतव्य है। इसलिये धर्म गति को अर्थ देता है। उसके जादू में गति मात्र गति ही नहीं, गीत भी हो जाती है।
मैं उसी मूल-स्रोत, उसी जीवन-स्रोत के संबंध में कुछ कहूंगा और उस साधना के संबंध में भी, जिसके माध्यम से हम उस स्रोत से संयुक्त हो सकते हैं।
उस स्रोत को जानना है और उस स्रोत के मार्ग को जानना है।
जीवन में जो दुख व्याप्त है, वह हमारे कुछ भी करने से दूर होने का नहीं
है जब तक कि हम जीवन को ही आमूल न बदल दें। वह दुख किसी बाह्य अभाव के कारण नहीं है। इसलिये सब अभाव मिट जावें तब भी वह बना ही रहता है। शायद और प्रगाढ़ भी हो जाता है क्योंकि तब अभाव दूर करने की व्यस्तता न रह जाने से उसका और भी नग्न साक्षात होता है। एक दरिद्रता वह है जो दरिद्रता में दीखती है, पर एक और गहरी दरिद्रता भी है, जिसके दर्शन पूर्ण समृद्धि में ही होते हैं।
जीवन का दुख किसी बाह्य अभाव के कारण नहीं है। अभावों के कारण कष्ट है। पर कष्ट दुख नहीं है और इसलिये सारे कष्ट मिट जावें तो भी दुख नहीं मिट जाता है। कष्ट और दुख के तल अलग हैं। वे अलग-अलग समस्यायें हैं। कष्ट परिधिगत असुविधायें हैं। दुख केंद्रगत संताप है। कष्ट बहुत हैं, दुख एक ही है। सब कष्टों को भी दूर कर देने से दुख दूर नहीं होता है। उसके निवारण का एकमात्र उपाय धर्म है। दुख असुविधा नहीं है, इसलिये किसी भी सुविधा से वह दूर नहीं होगा। दुख अज्ञान है--आत्म-अज्ञान। अंतस प्रकाश को उपलब्ध हो, तो ही वह दूर हो सकता है।
यह हो सकता है कि कोई सारे जगत को जीत ले, पर यदि वह अपने को अनजीता छोड़ दे, तो पायेगा कि कोई जीत उसकी जीत नहीं है। वह भीतर अब भी हारा हुआ है, अब भी पराजित है--स्वयं से पराजित है। उसकी बाहर की जीतें दूसरों को धोखा दे दें, पर स्वयं उसे धोखा नहीं दे सकतीं। वह दुख-स्थल, वह अंधेरा तो उसमें बना ही रहेगा, जो कि स्वयं को जीते बिना नहीं मिट सकता। उसे तो बाहर की विजय दुंदुभियों में नहीं छिपाया जा सकता है या कि कितनी देर छुपाया जा सकता है? उस दुखस्थल के बोध से टकराकर सब विजयें पराजयें हो जाती हैं और सब उपलब्धियां शून्य बन जाती हैं।
कोई स्वयं को कितनी देर वंचना में रख सकता है? हम सब कुछ पा लें, और स्वयं को खो दें, पर इतना अंधा कौन है कि देर-अबेर यह दीख न जावे? इस सौदे की व्यर्थता दीख ही जाती है। हीरों को खोकर जो कंकड़ों को खरीद लाता है, उसका सौदा भी इतना महंगा नहीं है। सब पाने के धोखे में वह व्यक्ति सब खो रहा है, जो कि स्वयं को खो रहा है। स्वयं को खोना सब खोना है। उस बिंदु के अभाव में सब भी पास में हो, तो उसका कोई मूल्य नहीं। क्योंकि सब मिलकर भी वह नहीं दे सकता है, जो कि उस अकेले "स्व" में छिपा हुआ है।
"स्व" से बड़ी कोई संपदा नहीं है, क्योंकि उस अकेले को पाने से ही सब पा लिया जाता है और उस अकेले के खोने से ही सब खो जाता है। वस्तुतः वही

एकमात्र संपदा है, क्योंकि वह हमारी अंतर्निहित शक्ति है, हमारा स्वरूप है और उसे पाये बिना कोई कुछ भी नहीं है।
जिसने स्वयं को ही नहीं पाया है, क्या कुछ और पाने के उसके दावे व्यर्थ ही नहीं हैं? जिसने स्वयं को ही नहीं पाया है वह केवल कुछ पाने के स्वप्न ही देख रहा है। उसकी सब संपदा स्वप्न-संपदा है। स्वप्न के खंडित होते ही वह पायेगा कि उसकी दरिद्रता का तो अंत नहीं है। वास्तविक संपदा की उपलब्धि स्वयं को पाने से प्रारंभ होती है। वह जागरण का प्रारंभ है। स्वयं को पाकर ही कोई उस दुःनिद्रा, उस दुःस्वप्न, नाइटमेयर से जागता है, जिसे कि हम जीवन समझ रहे हैं।
मनुष्य की शक्ति विस्तीर्ण होती जा रही है, पर मनुष्य शक्तिहीन होता
जा रहा है। यह बात कैसी विरोधाभासी, पैराडाक्सिकल प्रतीत होती है। पर यही हुआ है। बाहरी हमारी शक्ति बढ़ी है पर भीतर हम शक्ति शून्य हुए हैं। पदार्थ में हमारी गति हुई है, पर स्वयं हमारी सब गति अवरुद्ध हो गई है। पदार्थ को जानने में यह हमें स्मरण ही नहीं रहा कि स्वयं को भी जानना है। हम उस मिट्टी के दीये की भांति हैं, जो सब जगह प्रकाश करता है, पर उसके स्वयं के तले ही अंधेरा इकट्ठा हो जाता है!
स्मरण रहे कि मनुष्य चाहे अपनी शक्ति का विस्तार दूर-दिगंत तक कर ले, लेकिन तब तक वह शक्तिहीन ही होगा, जब तक कि उस छोटे बिंदु पर उसकी विजय नहीं है, जो कि वह स्वयं है। उस जीवंत कण पर--उस चैतन्य-अणु पर--विजय से ही शक्ति के, परम शक्ति के आधार रखे जाते हैं। उसे पाकर ही शक्ति का और ऊर्जा का जन्म होता है।
मित्र! मैं इस विजय के लिये आपको आमंत्रित करता हूं; इस चुनौती, चैलेन्ज को स्वीकार करें। आज तक कोई भी, कभी भी बाहर के जगत में कुछ भी पाकर आनंद को उपलब्ध नहीं हुआ है। आनंद आंतरिक जीत से मिलता है। हम भी उस आंतरिक को जीतें। हम भी उस मार्ग पर चलें, जिस पर वास्तविक विजेता चले हैं। वीरों और विजेताओं के उस मार्ग के संबंध में मैं कहूंगा। वह मार्ग ही धर्म है। स्वयं की विजय का मार्ग ही धर्म है।
थोड़ा हम सोचें। भीतर की पराजय को सोचें। स्वयं के भीतर हम कैसे सर्वहारा हैं! बाहर जिनकी विजय की पताकायें उड़ रही हैं या कि जो उनके उड़ाने के स्वप्न देख रहे हैं--वे भीतर क्या हैं? क्या वहां थोड़ी भी विजय है? क्या अपनी जीत का एक भी चिह्न वहां है? देखेंगे तो पायेंगे कि वहां सब हार है--हम वहां बिल्कुल हारे हुए हैं। थोड़ा-सा क्रोध उठेगा तो उस पर नियंत्रण नहीं हो सकता। काम की ज्वाला धधकेगी तो उससे जलना ही होगा। उससे बचाव नहीं है। अहंकार की लपटें पकड़ेंगी तो उन्हें शांत नहीं किया जा सकता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, कुछ भी हो, किसी पर कोई वश नहीं है। उनका ही हम पर वश है। उनके हम दास हैं--हम जो कि बाहर सम्राट बने बैठे हैं! वासनाओं के वेगों में यंत्रों की भांति हम चलते हैं।
इतनी परतंत्रता है कि मनुष्य हम अपने को क्या कहें--यह स्थिति है। यंत्रों जैसी स्थिति है। अपना ही मन है और हम उसके मालिक नहीं। और जिनके भीतर इतनी पराजय है, वे बाहर विजय के स्वप्न देखते हों तो पागल हैं। स्वयं की इन पराजयों को जीते बिना, कोई मनुष्य पूरे अर्थों में मनुष्य नहीं बनता है। वासनाएं जब तक मालिक हैं और विवेक दास है तब तक हम मनुष्य से नीचे के तल पर हैं। विवेक की वासना पर विजय, अंधी वासनाओं पर विवेक की जीत से मनुष्य का जन्म होता है।
विजय का पहला चरण वासनाओं पर रखना होता है--अपने ही मन पर रखना होता है। भीतर जो भी अंधे वेग हैं और वृत्तियां हैं, उन्हें जीतकर ही हम कह सकते हैं कि मन हमारा है। अन्यथा कहने को ही वह हमारा है, पर हमारा जरा भी नहीं। उसके अचेतन, अन्कांशस वेग और प्रवाह हमें बहाये लिये जाते हैं। उनकी आंधियों में हमारी अपनी कोई सत्ता नहीं, कोई प्रभुता नहीं। चेतन विवेक को अचेतन की आंधियों के सामने बार-बार हार जाना पड़ता है। चेतन की लौ उनमें बार-बार बुझी-बुझी हो जाती है। यह संघर्ष जीवन भर चलता है, पर बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली होते हैं जो कि समाधान तक पहुंच पाते हैं। संघर्ष बहुत करते

हैं, पर समाधान नहीं आता, क्योंकि सम्यक विधि का--जीत की सम्यक विधि, राइट मैथड का बोध ही नहीं होता है। सम्यक-विधि के अभाव में अकेला संघर्ष स्वयं को ही तोड़ देगा, पर समाधान उससे नहीं आ सकता। विजय के लिये विधि चाहिये-- सम्यक विधि चाहिये, तभी कहीं पहुंचना और कुछ पाना हो सकता है।
एक कथा कहीं मैंने पढ़ी है। एक बार एक राजा ने सात जंगली घोड़े पकड़े। उसने उन्हें वर्ष भर खूब खिलाया-पिलाया और उनसे कोई काम भी नहीं लिया। वे स्वच्छंद घोड़े बहुत शक्तिशाली और खतरनाक हो गये। उन्हें अस्तबल से भी निकालना कठिन हो गया। उनके पास जाना भी खतरे से खाली नहीं था। तब उसने राज्य में घोषणा की कि जो सात व्यक्ति उन पर सवारी करेंगे, उन्हें वह सम्मानित करेगा और अपनी सेना में उच्च पदों पर लेगा और उनमें जो प्रथम आयेगा, उसे वह अपनी घुड़सवार सेना का सेनापति बनायेगा।
बहुत लोग उन घोड़ों को देखकर ही वापिस लौट गये। पर सात बहादुर सवारों
ने साहस किया। प्रतियोगिता हुई। सौ मील के गंतव्य पर उन पर सवारी करके पहुंचना था। उन घोड़ों के लिये वह काम घंटों का भी नहीं था, पर राजा ने सात दिन का समय दिया था। उसने कहा कि सवार यदि सात दिन में भी उन घोड़ों को लेकर गंतव्य पर पहुंच सके, तो वह मानेगा कि उन्होंने घोड़ों को जीत लिया है! नियत दिन पर घोड़े बाहर निकाले गये। हजारों लोग देखने इकट्ठे हुए थे।
उन घोड़ों के बाहर निकालते ही वे सवारों को लेकर--राह छोड़कर--जंगल की ओर भागे। उन्हें वश में करना था। सवार उनके ऊपर थे, लेकिन जरा भी उनके ऊपर नहीं थे। सवारों का उन पर कोई वश नहीं था। सवार उन्हें नहीं, वे ही उन सवारों को ले गये। सवार उन्हें नहीं ले जा सके, पर वे सवारों को लेकर हवा हो गये थे।
एक दिन बीता, दो दिन बीते, लोग चिंतित हुए। न सवारों का कोई पता था, न घोड़ों का कोई पता था। पर तीसरे दिन एक सवार लौटा--लहू-लुहान। वह भी चोट खाया हुआ, घोड़ा भी चोट खाया हुआ। फिर धीरे-धीरे सब लौटे, पर एक नहीं लौटा। जो सबसे पहले सवार हुआ था, वह नहीं लौटा। अत्यंत टूटे हुए और क्लांत छह सवार और घोड़े सात दिन की अवधि के पूर्व ही निश्चित गंतव्य पर पहुंच गये। पर प्रथम का अंत तक कोई पता नहीं था। करीब-करीब तय ही था कि वह समाप्त हो गया है और अब नहीं लौटेगा। पर सातवें दिन सूरज डूबने के पूर्व--समय के पूर्व ही वह भी लौटा और उसे देखकर सब चकित हो गये। वह गीत गाता लौट रहा था और उसका घोड़ा भी स्वस्थ था और प्रसन्न था और बहुत उमंग से भरा था और अपने मालिक के प्रति उसकी आंखों में कृतज्ञता और प्रेम था।
राजा ने उससे कहा: "तुम अकेले ही सवार मालूम होते हो, बाकी कोई भी सवार नहीं है। उन सबकी सवारी घोड़ों ने ही की है!"
उस राजा ने उसे अपना सेनापति बनाया। उसकी सवारी का रहस्य क्या था? वही रहस्य, सीक्रेट मन की सवारी का भी है। वह सवार अदभुत था। वह चार दिन तक केवल घोड़े की पीठ का साथी रहा। उसने सवार बनने की नहीं, साथी बनने की कोशिश की। उसने घोड़े की लगाम को छुआ भी नहीं। उसने उसे कोई दिशा नहीं दी। उसने उसे कोई इशारा तक नहीं किया। वह उसके ऊपर था पर बिल्कुल अनुपस्थित था। उसने उसे पता भी नहीं चलने दिया कि वह है।
घोड़ा स्वच्छंद था, घोड़ा मुक्त था और सवार केवल दर्शक था। घोड़ा जब थक जाता, वह उसे विश्राम देता, उसके लिये भोजन और छाया की व्यवस्था करता। वह जब फिर भागने को उत्सुक होता, वह चुपचाप उसकी पीठ पर हो जाता, लेकिन ऐसे जैसे कि कोई पीठ पर नहीं है--सवार नहीं, मात्र दर्शक। और यह रहस्य, सीक्रेट था। घोड़ा चार दिन में मित्र हो गया, विनीत हो गया। प्रेम से जीत हो गई थी और पराया अपना हो गया था। वह शत्रु नहीं रहा, मित्र हो गया। शत्रु को अस्वीकार किया जा सकता है, मित्र को अस्वीकार करना मुश्किल था। फिर सवार ने उसे जहां चाहा वह वहीं आ गया था।
इस जगत में, इस जमीन पर कोई तीन अरब सवार हैं और तीन अरब घोड़े हैं। पर उनमें से शायद ही कुछ हों जो कि सवार हों, बाकी सब किसी भांति घोड़ों से लटके हुए हैं। वे भी लहू-लुहान हैं और घोड़े भी लहू-लुहान हैं। यह यात्रा बड़े कष्ट और पीड़ा की है। जिसे सवारी ही नहीं मालूम, उसकी भी यात्रा कोई

यात्रा है? जो अपने घोड़े पर, जो अपने मन पर ही सवारी नहीं कर पा रहे हैं, वे जीवन के अंत में, यात्रा के अंत में अपने को थका हुआ, टूटा हुआ और हारा हुआ पावेंगे। वे यात्रा के अंत में पावेंगे कि यात्रा व्यर्थ गई। यात्रा के अंतिम चरण में जिसे हम संतृप्ति कहें; संतुष्टि, फुलफिलमेंट कहें, उसको वह उपलब्ध नहीं हो सकेगा। आनंद उनका भाग्य नहीं होगा। जो उन्हें मिल सकता था, वे पायेंगे कि वह उन्होंने अपने ही हाथों खो दिया है।
धर्म मन को जीतने का उपाय है। लोग सोचते हैं कि धर्म मन से लड़ने का उपाय है। वे गलत सोचते हैं। लड़ाई से क्या कभी कोई जीत हुई है? शत्रु पर कभी विजय नहीं हो पाती है। शत्रु को हराया जा सकता है, पर जीता नहीं जा सकता। और "हराने" और "जीतने" में, मित्र! बहुत अंतर है। शत्रु हारने से टूट जाता है, दमित हो जाता है, पर शत्रुता नहीं टूटती। उस तल पर वह अपराजित ही बना रहता है। उसके भीतर आपकी विजय की स्वीकृति कभी भी नहीं हो पाती है। इसलिये मैं कहता हूं कि शत्रु आज तक नहीं जीते गये हैं, केवल मित्र ही जीते जाते हैं। केवल मित्रों पर ही विजय होती है। मित्रता में ही शत्रुता हारती और नष्ट होती है।
और यह नियम आंतरिक विजय में तो और भी ज्यादा निरपवाद और अपरिहार्य है। बाहर के शत्रु तो अन्य हैं, अंतस के शत्रु तो अन्य भी नहीं हैं। वे हमारी ही शक्तियां हैं--हमारी ही दिग्भ्रमित शक्तियां हैं। उन्हें नष्ट नहीं करना है। उन्हें हराना नहीं है। उन्हें जीतना है, और मार्ग देना है। उनका विनाश नहीं, संपरिवर्तन, ट्रान्सफार्मेशन अपेक्षित है। उनके विनाश से तो हम ही नष्ट हो जावेंगे। किंतु उनका संपरिवर्तन एक नये जीवन का प्रारंभ बन जाता है। जैसे खाद और मिट्टी परिवर्तित हो फूलों में और सुगंध में बदल जाते हैं, ऐसे ही जिन्हें, अज्ञान में हम अपने शत्रुओं की भांति जानते हैं, वे ही वेग और शक्तियां, एनर्जी.ज संपरिवर्तित हो, दिव्य-ऊर्जा और भागवत-जीवन के आधार बनते हैं। इसी अर्थ में धर्म उनका विनाश नहीं, विजय है।
आंतरिक वृत्तियों पर विजय का पहला नियम और सूत्र उनसे मैत्री है-- मित्रता है। जो अपने जीवन की आंतरिक शक्तियों के साथ मित्रता साध लेता है, वह उनका विजेता हो सकता है। साधारणतः लोग बहुत विपरीत ढंग से धर्म को सोचते हैं कि महावीर या बुद्ध या क्राइस्ट या कृष्ण--ये सब मन से शत्रुता को कह रहे हैं। यह धारणा गलत है। यह दृष्टि असत्य है। वे कोई भी शत्रुता को नहीं कह रहे हैं। वे विजय को कह रहे हैं। और विजय की सिद्धि मैत्री में और केवल मैत्री में ही संभव होती है।
जो जानता है, वह स्वयं के भीतर शत्रुता और अंतर्द्वंद्व, कान्फ्लिक्ट
को नहीं कह सकता है। उस भाषा में सोचना ही भूल है। वह भाषा आत्मघाती, सुइसाइडल है। अपनी ही शक्तियों से लड़कर परिणाम क्या हो सकता है? उससे शक्ति का हृस ही होगा और जीवन-ऊर्जा क्षीण होगी। भोग भी शक्ति का अपव्यय बन जाता है और दमन व संघर्ष भी। मैं तीसरे विकल्प को आपको समझाता हूं। प्रत्येक के भीतर शक्तियों का एक अविजित क्षेत्र है। साधारणतः हम अंधे होकर उन शक्तियों के हाथ में यंत्र बने रहते हैं। वासनायें ही हममें सब कुछ होती हैं और विवेक शून्य होता है। या फिर, उतने ही अंधे होकर हम उनसे संघर्ष और विरोध करने लगते हैं। पहली अति भी भूल है और दूसरी अति भी। वस्तुतः तो अति मात्र ही भूल होती है। मार्ग सदा मध्य में है, वह अन-अति में है। वह समता में और सम्यक्त्व में है।
मनुष्य को--इसके पहले कि वह अपने को जीते और जाने--अपनी सारी अंतर्निहित शक्तियों से मैत्री करनी होती है। उन्हें जानना और उनसे परिचित होना होता है। उनसे संघर्ष नहीं, सहयोग को निर्मित करना होता है। एक शब्द में, उसे अपने से प्रेम करना होता है। हम अपने से भी प्रेम नहीं करते हैं। तो हम किसी दूसरे को क्या प्रेम करेंगे? अपने प्रति प्रेम का रुख अपनायें। अपने शरीर और मन दोनों के प्रति प्रेम की भावना करें। वे आपके जीवन के उपकरण हैं। आपकी आत्मा के मंदिर हैं। सहानुभूति और प्रेम के प्रकाश में ही वे अपने रहस्य खोलते हैं और आपको उनमें प्रवेश मिलता है।

प्रेम ही प्रवेश देता है। विरोध कैसे प्रवेश देगा? शत्रुता कैसे द्वार खोलेगी? शत्रुता का रुख ही उनके द्वार बंद कर देता है। वह वैसे ही है जैसे कि जिन दरवाजों पर "अपनी ओर खींचो", पुल लिखा हो, कोई उन दरवाजों को धक्के, पुश दे। प्रेम अपनी ओर खींचता है और जीवन में अनुभूतियों के समस्त द्वारों पर "अपनी ओर खींचो" यही लिखा हुआ है।
स्वयं को प्रेम करो और देखो। और तब आपको मेरी बात की सत्यता का पता चलेगा। प्रेम से स्वयं के भीतर वह वातावरण बनता है जो आत्म-निरीक्षण, सेल्फ आब्जर्वेशन को जन्म देता है। प्रेम की भूमि में ही आत्म-निरीक्षण का बीज अंकुरित होता है। प्रेम से पैदा हुआ सामंजस्य और संगीत ही उसके लिये खाद और पानी बन जाता है।
स्वयं के चित्त के मार्गों को जानने के लिए उनके निरीक्षण के लिये एक आंतरिक सामंजस्य, इनर हार्मनि की भूमिका बहुत आवश्यक है। विरोध, दमन और शत्रुता से प्रारंभ करने वाले उसे कभी पैदा नहीं कर पाते। जिससे शत्रुता और विरोध है, उसका निरीक्षण कैसे किया जा सकता है? वैसी स्थिति में तो निरीक्षण के पूर्व ही दमन शुरू हो जाता है।
चित्त को उसके समस्त वेगों और वासनाओं में जानना है। उसके समस्त ज्ञात और अज्ञात, चेतन और अचेतन रूपों से परिचित होना है। उसकी समस्त भूमि ज्ञात करनी आवश्यक है। स्वयं के भीतर ऐसा कोई कोना नहीं रह जाना चाहिये जो कि हमें ज्ञात न हो और जिस तक हमारा निरीक्षण न पहुंच गया हो। ऐसे कोने ही हममें बेसुरता पैदा करते हैं। और वे वासनायें और वेग ही हमें शत्रु जैसे मालूम होते हैं जिनसे कि हम परिचित नहीं हैं। विवेक जिन वासनाओं से पूर्णतया परिचित है और जिनके प्रति पूरी तरह जागृत हो जाता है, वे वासनायें अपना दंश छोड़ देती हैं और विवेक के प्रति विनीत और समर्पित हो जाती हैं।
चित्त के प्रति चेतना की पूर्ण सजगता, अवेअरनेस में वासनाओं का धुंआ विलीन हो जाता है और केवल विवेक की अग्निशिखा ही शेष रह जाती है।
जीवन का दुख और पीड़ा यही है कि भीतर हमारे एक स्वर नहीं है, एकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति बहुत से स्वरों की अनेकता और भीड़ है। ये स्वर एक दूसरे से असंगत और स्व-विरोधी हैं। उनमें कोई सामंजस्य और कोई समस्वरता नहीं है। वे सब विभिन्न और विपरीत, और दिशाओं में दौड़ते मालूम होते हैं। उनकी यह स्थिति जीवन को संगीत नहीं, संताप बना देती है। और व्यक्ति नहीं, एक अराजकता, एनार्की ही हमारा भाग्य हो जाती है। वृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं की यह अंधी विक्षिप्तता ही दुख है। यही बंधन है। इससे मुक्त होना ही मोक्ष है।
क्या आपको अपने भीतर विरोधी स्वर और विक्षिप्तताएं नहीं दिखाई पड़ती हैं? मैं किसी सिद्धांत की बात नहीं कर रहा हूं। जो तथ्य है, मात्र वही कह रहा हूं। जीवन के सिद्धांतों से नहीं, जीवन के तथ्यों से ही मुझे प्रयोजन है। और तथ्य जानने हों तो शास्त्रों में नहीं, स्वयं में देखें। किन्हीं सिद्धांतों से तुलना और किन्हीं परिकल्पनाओं का विचार न करें। अपने को देखें--अपने व्यवहार और चर्या को और अपनी अंतसवृत्तियों को--तो वहां एक व्यक्ति नहीं, अनेक व्यक्ति दिखाई देंगे--वहां व्यक्तियों का प्रवाह दिखाई देगा। और उस प्रवाह में कोई एकता, यूनिटी नहीं प्रतीत होगी।
"मैं" और "एक नाम" से अपने को जानने की आदत एकता का भ्रम देती है, पर एकता दुर्लभ है। व्यक्ति होना कठिन है। उसका जन्म तो तब होता है, जब भीतर की सब अराजकता और विक्षिप्तता विलीन हो जाती है। वह तो उस अप्रमत्त स्थिति का नाम है, जब वासनाओं की आंधियां नहीं होती हैं और विवेक की शिखा अकंप जलती है। अभी तो आप अपने को क्षण-क्षण बदलता हुआ पावेंगे और बदलाहट ही नहीं, क्षण भर पहले जो थे, क्षण बाद उसके विरोध में भी पावेंगे।
स्वयं का ही हम प्रतिक्षण विरोध करते और खंडित करते हैं। और जिसे हम स्वयं बनाते हैं, उसे स्वयं ही मिटा देते हैं। जिसे हम प्रेम में बोते हैं, उसे घृणा में उखाड़ देते हैं। और शांति में जिसकी नीवें भरते हैं, अशांति में उसके शिखर गिरा देते हैं। एक हाथ से देते हैं और दे भी नहीं पाते हैं

कि दूसरे से छीन लेते हैं! यही हमारी पराजय है, यही हमारा आत्मघात है। इस असंगति और असंगीत से जो मुक्त नहीं होता है, वह जीवन के आनंद को और सौंदर्य को नहीं जान पाता है। वह व्यर्थ जीता है और बोझ ढोता है।
मित्र! हम व्यर्थ ही जीते हैं। व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ जीते हैं। और एक बहुमूल्य अवसर खो जाता है--बहुत अमूल्य अवसर खो जाता है। जिसमें कुछ हुआ जा सकता था, उसमें हम केवल मिटते और न होते हैं। और यह सिर्फ इसलिये कि हमारे भीतर ऐक्य, यूनिटी नहीं है। और स्मरण रहे जिसके भीतर ऐक्य नहीं है, जो "एक" नहीं है, उसके भीतर कुछ भी नहीं है। एकता, स्वयं के भीतर एक का जन्म वास्तविक जीवन का आधार है।
आप एक हो या नहीं? अपने से पूछो और अपने में देखो। खोजो! खोजने से ज्ञात होगा कि वहां तो बहु-चित्त हैं। वहां तो अनेक हैं। एक चित्त का ख्याल भ्रम है। वह सबसे असत्य बात है। चित्त हैं, चित्त नहीं और यही पीड़ा है। मनुष्य की पीड़ा यही है कि वह है ही नहीं। अनेकता, मल्टिप्लिसिटी जब तक है, तब तक मनुष्य नहीं है। आप एक भीड़, क्राउड हैं। किंतु जिसे जीवन को पाना हो, उसे व्यक्ति, इन्डिवीजुअल होना आवश्यक है।
एक बनो। व्यक्ति बनो। व्यक्ति यानी अविभक्त! मैं यही सिखाता हूं। अनेकता से और अराजकता से ऊपर उठो। यही मेरी शिक्षा है। यही मंत्र मैं आपको देना चाहता हूं। इसे ही मैंने परम सत्य तक पहुंचने का मार्ग जाना है।
यह कैसे होगा? हमारे भीतर अनेकता है पर और भीतर प्रवेश करने पर अनेकता नहीं है। वस्तुतः जो केंद्र है, वहां अनेकता नहीं है। वस्तुतः जो "मैं हूं" वहां अनेकता नहीं है। चित्त अनेक हैं, पर चेतना, कांशसनेस अनेक नहीं है। हम चूंकि चित्त को ही अपना होना जानते हैं, इसलिये विभक्त और खंडित मालूम होते हैं। चित्त के साथ तादात्म्य, आइडेंटिटी ने हमें खंडित किया हुआ है। जैसे कोई खंडित दर्पण में स्वयं को देखे और पाये कि वह खंड-खंड हो गया है--ऐसी ही यह भूल हमारी है। चित्तों के भीतर चेतना को खोजना है और दर्पण के खंडित प्रतिबिंबों के पीछे उसे जानना है जिसके कि वे प्रतिबिंब हैं। उसे जानते ही अनेकता के धुएं में एकता की ज्योति उपलब्ध हो जाती है। एक होना नहीं है, क्योंकि यदि हम वस्तुतः एक नहीं हैं तो कभी भी एक नहीं हो सकते हैं। जो हम वस्तुतः हैं, वही हमें होना है। जो हैं वही होना है। उसे ही पाना है, जो कि पाया ही हुआ है। वह संभव हो सके, इसलिये अपने में बहुत गहरे देखना आवश्यक है, दृष्टि जब स्वयं की आत्यंतिक गहराई में प्रवेश करती है तो अनेकता की लहरों के नीचे एकता का धरातल मिलता है। दृष्टि का, दर्शन का यह आत्यंतिक, अल्टिमेट प्रवेश ही योग है। दृष्टि जैसे-जैसे अंतस में चलती है, वैसे-वैसे अनेकता और अराजकता विलीन होती है। और फिर एक क्षण आता है, जबकि कोई भी दृश्य नहीं रह जाते हैं। दृश्यों का विलीन हो जाना, चित्तों का विलीन हो जाना है। फिर देखने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। बस, यही बचता है जो कि देखता है। यही वह "एक" है, जिसे पाने से व्यक्ति का जन्म होता है।
दर्शन का अंतर्गमन "एक" पर पहुंचाता है, और बहिर्गमन "अनेक" पर। "अनेकता" संसार है; "एकता" मोक्ष है।
मैं अपने भीतर निरीक्षण करता हूं तो जो अनेक है, उसे संसार और जो एक है, उसे स्वयं जानता हूं। भीतर अनेक क्या है? वासनाएं अनेक हैं, विचार अनेक हैं, भावनाएं अनेक हैं। एक क्या है? विवेक एक है, चैतन्य एक है। वही एक "मैं" हूं। वासनाओं का, विचारों का, भावनाओं का प्रवाह किसके समक्ष है? वे किसके लिये दृश्य हैं? वही "मैं" हूं, जिसके वे समक्ष हैं और जिसके लिए दृश्य हैं। "मैं" स्वयं के लिये दृश्य नहीं हो सकता है। "मैं" स्वयं के समक्ष नहीं हो सकता, इसलिये जो भी मेरे समक्ष है, वह निर्णीत रूप से "मैं" नहीं हूं, यह बोध जगाना है। इस बोध से वासनाओं, विचारों और भावनाओं से बंधा हुआ मिथ्या तादात्म्य क्षीण होता है और अंततः नष्ट होता है। उस आभास के विसर्जन पर ही चित्तों से जो अतीत है, उस चेतना की अनुभूति होती है। वह अनुभूति "एक" में ले जाती है और "एक" बनाती है।

यह जीवन क्रांति वासनाओं, विचारों और भावनाओं के दमन, रिप्रेशन से नहीं होती है। वह उनसे युद्धरत होने से नहीं होती। वह होती है सम्यक निरीक्षण, राइट आब्जर्वेशन से। वह होती है उनके प्रति जागृत होने से। "सहज सजगता"--इन दो शब्दों में ही सारी विधि है। चित्त जिनसे राग करता है, उनसे द्वेष करना कठिन नहीं है। द्वेष राग का ही दूसरा रूप है। वह उसकी ही प्रतिक्रिया, रिएक्शन है। वह राग से अन्य नहीं, राग का ही उलटा रूप है। वह शीर्षासन करता हुआ राग है। वह मुक्ति नहीं, दूसरी ओर से नये रूप में पुराना ही बंधन है।
राग और विराग, भोग और त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक में दूसरा
भी प्रच्छन्न रहता है। एक ऊपर होता है, तो दूसरा उसके नीचे छिपा रहता है। इसलिये भोगी के चित्त में त्याग की अंतःधारा चलती रहती है और तथाकथित त्यागी के अवचेतन में भोग की। त्यागी भोग के सपने देखता है और भोग के आक्रमणों से पीड़ित रहता है और भोगी भी त्याग के सपने देखता है और त्याग का आकर्षण अनुभव करता है।
पुण्यात्मा कहे जाने वाले लोग जो सपने देखते हैं, उनमें अपने को पापियों जैसा ही पाते हैं, यह बहुत अर्थपूर्ण है। इसका अर्थ है कि चित्त में प्रत्येक वृत्ति अपनी विरोधी, किंतु पूरक वृत्ति को सदा छिपाये रखती है। उनमें से किसी को भी चुनना चित्त के बाहर और ऊपर जाने का मार्ग नहीं है। वे दोनों ही चित्त की हैं और चित्त में हैं। उनमें से चुन लेना तप नहीं है। तप दोनों के बीच अ-चुनाव, च्वाइसलेसनेस में है। अ-चुनाव तपश्चर्या है। वही असली और कठिन बात है। राग और विराग के द्वंद्व में जो तटस्थ है, वही तपस्वी है।
मैं संसार छोड़कर संन्यास लेने को नहीं कहता। मैं कहता हूं संसार और संन्यास की वृत्तियों के प्रति सम्यक जागरण को। संसार छोड़कर जो संन्यास लिया जाता है, वह संसार का ही रूप होता है। उसमें संसार छुपा रहता है और संन्यासी का प्राण बना रहता है। वह संन्यास वास्तविक नहीं, और केवल वेषभूषा का संन्यास है। वास्तविक संन्यास संसार का विरोध नहीं है। वह राग के विपरीत विराग नहीं है। वह राग और विराग से मुक्ति है। वह संसार और संन्यास दोनों से मुक्ति है। वह उन दोनों में नहीं है। वह एक तीसरी अवस्था है। वह द्वंद्व के बाहर है, वही केवल स्वयं में ले जाता है।
और द्वंद्व के बाहर क्या ले जाता है?--द्वंद्व के प्रति जागरण! वही द्वंद्व के बाहर ले जाता है। जागरण तीसरा सूत्र है। वह द्वंद्व के बाहर और अतीत है। उसे साधने को ही मैंने तपश्चर्या कहा है। वह साधना अदभुत रहस्यों का उदघाटन करती है और अलौकिक जगत के द्वार खोलती है। जागरण चेतना में प्रतिष्ठित करता है और विकल्पों के ऊपर उठाता है। वह निर्विकल्प बनाता है और निर्विकल्पता में जो खड़ा होता है, वह वासना में नहीं, विवेक में खड़ा हो जाता है। विकल्प में जो है, वह वासना में है। निर्विकल्प में जो है, वह विवेक में है।
वासना और विवेक का सेतु निर्विकल्प साक्षी भाव है। लेकिन जो वासना के दमन में पड़ जाते हैं, वे बुरी तरह भटक जाते हैं। इस जगत में दो भटकनें हैं: भोग की भटकन और दमन की भटकन। संसार और तथाकथित संन्यास, दोनों उलझने हैं और बंधन हैं। तपश्चर्या दोनों के बीच संयम और संतुलन उपलब्ध करने में है। जैसे कोई दो खाइयों के बीच पतली पगडंडी पर चले, संयम ऐसा ही संभलकर चलना है। एक से बचने वाला दूसरी में गिर जाता है। जिसे बचना है, उसे दोनों से बचना होता है। भोग और दमन दोनों ही वरणीय नहीं हैं।
मैं तथाकथित साधुओं और धार्मिकों को देखता हूं, तो उन पर मुझे बहुत दया आती है। वे तपश्चर्या में नहीं, आत्महिंसा में लगे हुए हैं। उसे ही उन्होंने तप जाना है। वह तप नहीं, हिंसा है। हिंसा और घृणा की वृत्तियों को उन्होंने अपने ही प्रति उलटा लिया है। वे अपने ही दुश्मन बन गये हैं। और स्वयं के दमन और स्वयं को सताने में उन्हें जो रस आ रहा है, वह हिंसा का ही रस है। यह अत्यंत सूक्ष्म हिंसा है और ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती है, इसलिये ज्यादा खतरनाक भी है। यह हिंसा सिवाय अहंकार-संवर्धन के और कहीं

नहीं पहुंचाती है। और यह भी स्मरणीय है कि जो अपने प्रति हिंसक होता है, वह वस्तुतः दूसरों के प्रति अहिंसक नहीं हो सकता है। वैसा होना असंभव है। अहिंसा का प्रारंभ स्वयं से ही होता है। स्वयं के प्रति हिंसा करने वाला, दूसरों के प्रति अहिंसक दीख सकता है, क्योंकि वह हिंसा की वृत्ति और वेग को स्वयं पर ही तृप्त कर लेता है। किंतु वह अहिंसक नहीं है और किसी भी क्षण उसका विस्फोट हो सकता है और उसके रुखों और क्रियाओं में अहंकार और हिंसा की झलक तो सदा ही प्रच्छन्न रहती है।
वस्तुतः जिसका भी दमन किया जाता है, वह कभी नष्ट नहीं होता। उसके दबे वेग और प्रवाह बने ही रहते हैं और विस्फोट के लिये अनुकूल समय की प्रतीक्षा करते हैं। दमन से वासनाओं के बीज दग्ध नहीं होते और वर्षा आने पर उनमें पुनः अंकुर आ जाते हैं। फिर जिसे दबाया है, उसे रोज दबाना होता है। उसे प्रतिक्षण दबाना होता है--वस्तुतः उसे दबाये ही रहना होता है। फिर भी कोई फल नहीं आता है और अंततः पाया जाता है कि जो जहां था, वह वहीं ही है। एक कथा स्मरण आती है। उसे कहूंगा।
एक संध्या दो भिक्षु किसी पहाड़ी नदी को पार करते थे। एक था वृद्ध संन्यासी, दूसरा युवा। वृद्ध आगे था, युवा पीछे। नदी तट पर एक युवती खड़ी थी। वह भी नदी पार करना चाहती थी। किंतु अपरिचित पहाड़ी नदी थी और तीव्र उसका प्रवाह था। युवती उतरने का साहस नहीं कर पा रही थी।
वृद्ध संन्यासी उसके निकट आया तो उसकी दुविधा देख उसने सोचा कि उसे हाथ का सहारा दे दूं। लेकिन यह क्या? हाथ का सहारा देने के विचार के आते ही, जैसे कोई सोया सर्प अचानक फन उठा ले ऐसे ही कामवासना उसके रोयें-रोयें में कांप गई।
शरीर वृद्ध था, पर वासना अभी भी युवा थी। विकारों को दबाया था, पर वे मौजूद थे। दमन के अनेक वर्ष एकदम विलीन हो गये। बहुत तप, संघर्ष किया था, उसकी कोई रेखा भी शेष न रही।
यह क्या हुआ? क्या सब श्रम जल पर रेखायें खींचने जैसा ही व्यर्थ नहीं
हो गया था? वह अपने से ही भयभीत वृद्ध आंखें नीचे झुकाकर नदी पार करने लगा। पर आंखें झुकाने या बंद करने से तो कुछ होता नहीं है।
स्त्री या पुरुष बाहर नहीं हैं, वे तो भीतर ही छिपे हैं। काश! विकार बाहर होते तो उन्हें छोड़कर भागा जा सकता था, लेकिन वे तो भीतर हैं, भागने वाले के साथ हैं। उन्हें छोड़कर भागने का उपाय नहीं। उन्हें दमन करने का भी उपाय नहीं, क्योंकि दमन से वे आप में और भी गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं और आपके चित्त-भवन के और भी अंधेरे, अज्ञात और अचेतन प्रकोष्ठों में उनका निवास हो जाता है। वे चेतन, कांशस से हट जाते हैं, पर अचेतन, अन्कांशस के अतिथि हो जाते हैं।
उस वृद्ध ने नदी पार की। उसने पीछे नहीं देखा, किंतु उसका मन पीछे की
ओर ही भाग रहा था। वह युवती तो उसके शरीर के पीछे थी, किंतु उसके मन में युवती आगे थी। उसके मन में अनेक विकल्प उठे। सोचता था, सहारा दे ही क्यों न दिया? लेकिन एक वासनाग्रस्त लिप्सा भी उसके मन में व्याप्त होती चली गई। वह बहुत घबड़ा गया और ग्लानि से भर गया। उसने भगवान का स्मरण किया और कहा, "मुझे क्षमा करें। बड़ी भूल हुई है। यह मैंने क्या कर लिया है?"
यूं ऊपर से उसने कुछ भी नहीं किया था, पर असली करना तो सब भीतर घटित होता है। बाहर तो केवल उसकी प्रतिछायाएं ही आती हैं। विचार ही असली कर्म हैं। बंधन और मोक्ष वही हैं। वे विचार फिर वस्तुतः कर्म में आते हैं या नहीं इससे बहुत भेद नहीं पड़ता।
वह वृद्ध संन्यासी जब नदी के उस पार पहुंचा, तो उसे याद आया कि उसके पीछे उसका युवा साथी भी आ रहा है। वह चिंतित हुआ कि कहीं वह भी उसी पाप-चिंतना में न पड़ जावे, जिससे वह स्वयं पीड़ित और पतित हुआ है।
उसने लौटकर देखा--और वह आंखें फाड़े देखता ही रह गया? उसे अपनी आंखों
पर विश्वास करना मुश्किल था। वह युवक उस युवती को कंधे पर लिये नदी पार हो रहा था! उसे आग लग गई और वह उत्तप्त और अशांत हो गया। उसका स्वयं का काम क्रोध में परिणत हो गया।

फिर वे बड़ी देर तक आश्रम की ओर चुपचाप चलते रहे। वृद्ध इतना क्रुद्ध
था कि कुछ भी बोल नहीं सका। अंततः जब वे आश्रम में प्रवेश करने लगे, तो उसका बांध टूट ही गया।
वह बोला, "आज तुमने बहुत पाप किया है। विकारों के उस ढेर को तुमने कंधे
पर क्यों लिया था? उस युवती को स्पर्श क्यों किया? अब मैं इस पाप के संबंध में गुरु को बिना बताये कैसे रह सकता हूं? तुमने संन्यास का और शील का नियम भंग किया है।"
उस युवक ने यह सुना और उत्तर में कहा, "क्षमा करें। उस युवती को तो मैं नदी तट पर ही छोड़ आया हूं, लेकिन प्रतीत होता है कि आप उसे अभी भी अपने कंधे पर लिये हुए हैं।"
यह आश्चर्यजनक है, किंतु स्वाभाविक है। दमन का यह सहज परिणाम है। जिसने कंधे पर नहीं लिया था, वह उसे कंधे पर लिये हुए था और जिसने लिया था उसने लिया ही नहीं था। प्रश्न कंधों का नहीं, मन में लेने और न लेने का है। और यह मन बहुत सूक्ष्म और बहुत वंचक है।
जो इसे नहीं जानते हैं और इसके सूक्ष्म मार्गों से परिचित नहीं होते,
वे लड़ते तो हैं, लेकिन कभी जीतते नहीं। उनका श्रम व्यर्थ जाता है और उनकी जिंदगी आत्म-वंचना की एक लंबी कथा हो जाती है। और स्वयं के प्रति धोखे में बने रहना, दूसरों को धोखे में रखने से बहुत ज्यादा घातक है।
दमन ऊपर से फूल चिपका देता है, और भीतर कांटे ही कांटे होते हैं।
दमन ऊपर से सुगंध छिड़क देता है, और भीतर दुर्गंध बनी रहती है।
दमन ऊपर से शुभ्र वस्त्र दे देता है, और भीतर कालिख ही कालिख होती है।
कुछ भी बदलता नहीं है, और सब बदला हुआ मालूम होने लगता है। भीतर सब वही, बाहर सब भिन्न दिखता है। इससे स्वयं भी धोखे में आ जाना संभव होता है। क्योंकि हमें जैसा दूसरा मानते हैं, वैसा ही हम स्वयं को भी मानने लगते हैं। स्वयं को भी हम दूसरों के माध्यम से ही तो जानते हैं। वह जानना भी हमारा प्रत्यक्ष, इमीडिएट और सीधा नहीं है। वह भी परोक्ष, मीडिएट है। इससे ही हम दूसरों के सामने अपने शील को, अपनी नैतिकता को और अपने शुभ को सिद्ध करना चाहते हैं, ताकि उस पर हम स्वयं विश्वास कर सकें। दूसरों को विश्वास दिला देने से हमें स्वयं विश्वास आ जाता है। इससे ही यदि दूसरे हमारी निंदा करें, आलोचना करें--हमें और हमारी साधुता को स्वीकार न करें--तो हम उनसे भय खाते और दुखी होते हैं, क्योंकि वे इस भांति हमारे तथाकथित आत्म-विश्वास को तोड़ते हैं। उनने ही हमें बनाया है, वे ही हमें मिटा भी सकते हैं।
वासना और विकार को जिसने छिपाया है, उसकी यही गति है। वह और उसका चरित्र दूसरों के मतों, ओपीनियन्स से बने हुए हैं। ऐसा व्यक्ति बहुत कागजी होता है और पानी की थोड़ी-सी बूंदें उसके रंग-रूप को बहा ले जाती हैं। आपसे मैं यही पूछता हूं? आपके इरादे क्या हैं? क्या कागजी व्यक्तित्व चाहते हैं या कि अपने आधार फौलाद पर रखने हैं? कागजी व्यक्तित्व बनाना हो तो किसी और से पूछें--मैं तो केवल फौलादी आधारों के ही संबंध में बता सकता हूं! ऊपर से सुगंध छिड़क लेने का रास्ता मैं नहीं जानता हूं--मैं तो कैसे आपके प्राणों से सुगंध उठने लगे, आपकी श्वास-श्वास और रंध्र-रंध्र सुवास में परिणत हो जावे, वही और केवल वही बता रहा हूं। निश्चित ही मेरा मार्ग लंबा है, क्योंकि वह मार्ग है। जो मार्ग ही नहीं हैं और केवल आभास हैं, वे ही छोटे हो सकते हैं।
मैं दमन को नहीं, विसर्जन को कहता हूं। सवाल यह नहीं कि आप क्या दबा लेते हैं? दबाइयेगा कहां? उसे केवल दूसरे से छिपा लेंगे--लेकिन स्वयं से? वहां तो वह विसर्जन से ही विलीन होता है। वासना छिपानी नहीं, मिटानी है। उससे मुक्त होना है। उसे कैद नहीं करना है। बंदी वासना और बंदी विकार आपको भी बंदी रखते हैं। वे जितने आपके बंदी हैं, आप भी उनके उतने ही बंदी हैं। एक व्यक्ति एक गाय को बांधकर लिये जाता था। किसी फकीर ने उससे पूछाः "मित्र! गाय को तुम बांधे हो या कि गाय तुम्हें बांधे हुए है?" यह प्रश्न बहुत अपूर्ण है। बंधन सदा पारस्परिक, म्युचुअल होते हैं। जिसे आप बांधते

हैं, उससे आप भी बंध जाते हैं। वासनाओं को बांधना नहीं है, उन्हें विसर्जित करना है। विसर्जन से ही आपकी स्वतंत्रता फलित होती है। वही व्यक्ति स्वतंत्र है, जिसके बंधन नहीं हैं और जो किसी के बंधन में नहीं है।
भोग में आप वासनाओं के बंधन में होते हैं। दमन में वासनाएं आपके बंधन में होती हैं। दोनों ही स्थितियां परतंत्र हैं। स्वतंत्र वह है जो वासनाओं से मुक्त है--जिसकी कि वासनाएं हैं ही नहीं। उनके अभाव में ही केवल स्वतंत्रता है।
वासना-अभाव स्वतंत्रता है। शेष सब परतंत्रताओं के ही रूप हैं। राग और विराग, भोग और त्याग, सभी परतंत्रताएं हैं। वीतरागता ही एकमात्र स्वतंत्रता है।
मैं एक गांव में था। किसी ने वहां पूछा थाः "लेकिन साधु तो दमन को कहते हैं और धर्मों की शिक्षाएं तो दमन के ही लिये हैं?" मैंने कहा, "जो दमन के लिये कहे, वह जानता ही नहीं है। वह मार्ग अज्ञान का है, ज्ञान का नहीं। ज्ञान दमन को नहीं, मुक्त होने को कहता है।"
धर्म--कोई वास्तविक धर्म दमन नहीं सिखाता है। लेकिन समझने वालों में भूल हो सकती है, क्योंकि अकसर हम वही समझ लेते हैं जो कि समझना चाहते हैं। और हमारी समझ हमारे तल की ही होती है। उदाहरण के लिये, महावीर को लें। उनका जीवन उत्कट साधना का जीवन था। वैसे तपस्वी बहुत कम हुए हैं। पर उन्हें समझा नहीं जा सका और जो उनके पीछे हैं, वे उन्हें बिल्कुल भी नहीं समझ सके। यही समझा जाता है कि महावीर दमन के मार्ग के प्रणेता थे। वे अपनी देह, और मन का दमन कर रहे थे। इससे असत्य और कोई बात नहीं हो सकती। महावीर की अत्यंत विधायक, पाजिटिव साधना, ऐसे अत्यंत नकारात्मक, निगेटिव रूप ले लेती है।
महावीर देह और मन का दमन नहीं कर रहे थे। वे तो उसे जगा रहे थे कि जिसके प्रकाश में देह, मन के बंधन विसर्जित हो जाते हैं। उनका कार्य उस विधायक तत्व के जागरण से संबद्ध था, देह मन को सुलाने से नहीं। उस विधायक का जागरण अपने आप ही देह और मन से मुक्ति बन जाता है। पर बाहर से जो देखते हैं, उन्हें नकार ही दिखाई पड़ेगा। उन्हें छोड़ना ही दिखाई पड़ेगा--पाना नहीं। जबकि पाना सब छोड़ने के पूर्व है। उन्हें विसर्जन दमन जैसा प्रतीत होगा, क्योंकि जिसके कारण विसर्जन हो रहा है, उसके प्रति उनमें आंखें नहीं हैं।
महावीर के आचरण को ही जो जानते हैं, वे दमन ही देख पावेंगे। पर जो उनके अंतस को जानते हैं, वे कुछ और जानते हैं। उनका जानना बहुत भिन्न है। वे साधना की विधायकता को जानते हैं। नकारात्मक जो भी दिखाई पड़ता है, वह उस विधायक का सहज परिणाम मात्र है। असार को छोड़ना नहीं, सार को पाना ही आधारभूत है। मैंने ऐसा ही जाना है। महावीर के अंतस में देखता हूं, तो ऐसा ही पाता हूं।
संसार असार है, ऐसा मानकर जो साधना के जीवन को अपनाता है, वह बहुत कच्ची नींव पर भवन खड़ा करता है। पक्की नींव तो तब उपलब्ध होती है, जब ज्ञात होता है कि आत्मा सार है। संसार का असार अनुभव होना साधना के लिये जिज्ञासा हो सकती है, लेकिन साधना का जीवन नहीं। उस जीवन की शुरुआत तो उसके अनुभव से होती है जो कि सार है। असार के बोध पर खड़ी साधना नकारात्मक है। सार का आधार साधना को विधायकता देता है। और उसके बाद ही वास्तविक जीवन में प्रवेश होता है। निषेध और नकार कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं हैं। दमन निषेध है। वह अशुभ का विरोध है। विसर्जन निषेध नहीं है, शुभ का जागरण है। दमन नकार है। विसर्जन विधेय है।
सुबह सूरज उगता है। घास पर, वृक्षों के पत्तों पर पड़ी ओस की बूंदें उसकी किरणों के आते ही विलीन हो जाती हैं, वाष्पीभूत हो जाती हैं। फिर उन्हें ढूंढ़कर भी नहीं पाया जा सकता। उनका जीवन रात्रि के शीतल अंधकार में था। प्रकाश और उत्ताप उनका जीवन नहीं है। ऐसे ही जब भीतर ज्ञान के सूरज का जन्म होता है तब विकार की, वासना की बूंदें वाष्पीभूत, एव्हपोरेट

हो जाती हैं। उन्हें दमन नहीं करना होता। न उन्हें मिटाने को ही कुछ करना होता है। बस, वे नहीं पाई जाती हैं। ज्ञान का और उनका सह-अस्तित्व, को- एग्जिस्टेंस असंभव है। ज्ञान और वासना साथ-साथ नहीं होते। ज्ञान के आते ही वासना, पेशन विलीन होती है और उसमें अंतर्निहित शक्ति करुणा, कम्पेशन में परिणत हो जाती है।
अज्ञान के साथ वासना होती है, ज्ञान के साथ करुणा। वासना अज्ञान का प्रगट रूप है, करुणा ज्ञान का। वासना अज्ञान की देह है, करुणा ज्ञान की। इसलिये ही, वासना से अज्ञान पहचाना जाता है। जहां करुणा है, वहां ज्ञान है। वही ज्ञान की कसौटी है। वही ज्ञान की परीक्षा है। वही ज्ञान की खबर है।
किंतु इससे कहीं यह भ्रांति आपके मन में न पैदा हो जावे कि वासना को करुणा में बदलना है। वह परिवर्तन सीधा नहीं होता। वह परिवर्तन परोक्ष है। ज्ञान के जागरण और अज्ञान के विलीन होने से वह परिवर्तन होता है। जिस भ्रांति के प्रति मैं आपको सचेत कर रहा हूं, वह बहु-प्रचलित है। उसके कारण ही दमन और नकार ने धर्मों की अंतरात्मा को ग्रसित कर लिया है। ज्ञान को जगावें--शेष सब उसके बाद होता है। सूर्य न हो, उसका उत्ताप न हो और अंधेरी और सर्द रात्रि हो, तो ओस की बूंदों को आप छिपा सकते हैं, मिटा नहीं सकते। और जो छिपाने में लगा है, वह गलती में लगा है। उस आत्म-वंचना में कोई न पड़े। शक्ति और श्रम के अपव्यय के अतिरिक्त उसमें कुछ भी नहीं है।
एक शब्द को अपने स्मरण में रख लें। वह शब्द हैः "विसर्जन।" विसर्जन की प्रक्रिया बहुत मूलभूत है। वह शब्द समस्त योग का सार सूत्र है। उस प्रक्रिया का रहस्य इसमें है कि वह विसर्जन ही नहीं, वस्तुतः संपरिवर्तन, ट्रांसफार्मेशन भी है। शक्तियां विसर्जित नहीं होतीं, वे संपरिवर्तित होती हैं। उनके रूप बदलते हैं और उनकी दिशा बदलती है। अधोगमन की जगह ऊर्ध्वगमन आता है। पशु की ओर उन्मुख न होकर, शक्तियां प्रभु की ओर उन्मुख हो जाती हैं। उनका उदात्तीकरण, सब्लिमेशन ही विसर्जन है।
जगत में जो भी है, वह कुछ भी नष्ट नहीं होता है। और जो नहीं है, उसका सृजन भी नहीं होता है। न सृजन है, न विनाश है। जगत में केवल परिवर्तन है। वासनाओं के नष्ट होने का अर्थ है कि वह शक्ति जो वासना में प्रगट थी, उसने अभिव्यक्ति का दूसरा मार्ग ले लिया है। अभिव्यक्ति का मार्ग बदलता है, शक्ति नष्ट नहीं होती। जो प्रेम में प्रगट होती है, वह वही शक्ति है, जो कि घृणा में प्रगट होती थी। जो पशुता में परिलक्षित होती है, वही शक्ति दिव्यता में भी मौजूद होती है। लोहा स्वर्ण बन जाता है और कंकड़-पत्थर हीरे हो जाते हैं। शक्ति का ऊर्ध्वगमन है, विनाश नहीं। उसे समझें और स्मरण रखें; क्योंकि उस पर ही साधना की सारी दिशा निर्भर होती है।
वासना और विकार के साथ सीधा कुछ भी नहीं करना है। वे केवल मार्ग हैं। मैं--वह शक्ति--जो कि उन मार्गों पर गतिमय हूं, यदि दूसरे मार्गों पर गतिमय हो जाऊं, तो वे मार्ग समर्थ हो जावेंगे। उनके साथ नहीं, अपने साथ कुछ करना है। इसे ही मैं साधना की विधायकता कहता हूं। इस भांति उस प्रकाश की अनुभूति होती है, जिसकी उपस्थिति में वासना और विकार का अंधकार विलीन हो जाता है। अंधकार को मिटाना नहीं होता; प्रकाश को जलाना होता है।
जो अंधेरे को मिटाने और निकालने में लगे हैं, उनकी आस्था दमन है। मैं प्रकाश जलाने को कहता हूं। मेरी आस्था दमन नहीं, विसर्जन है। पाप प्रश्न नहीं है, प्रश्न प्रभु है। पाप को नहीं मिटाना, प्रभु को जगाना है। और जब मैं पाप का चिंतन करते और उसे मिटाने और जीतने का उपाय सोचते लोगों को देखता हूं तो मेरी पीड़ा का अंत नहीं रहता है। पाप का विचार व्यर्थ है। पाप है कहां? उसकी वास्तविक सत्ता कहां है, जो कि उसके साथ कुछ भी किया जा सके? वह तो स्व-बोध का अभाव ही है। उस पर नहीं, स्व-बोध पर कार्य करना है।
धर्म पाप-त्याग से नहीं, प्रभु-उपलब्धि से फलित होता है। यह मैं सबसे कहना चाहता हूं। उन हृदयों तक यह पुकार पहुंचाना चाहता हूं जो कि पाप-त्याग के विचार से पीड़ित हैं। उनकी अभीप्सा शुभ है, पर मार्ग ठीक नहीं। उनकी आकांक्षा शुभ है, पर दिशा विपरीत है। ऐसे शुभाकांक्षी हृदय भी

व्यर्थ ही पीड़ा पाते हैं, क्योंकि अंधकार को सीधा निकालना और मिटाना असंभव है।
मनुष्य को पाप में मानना भूल है। मनुष्य पाप में नहीं, अज्ञान में है।
जो भी पाप है, वह उसके अज्ञान का फल है। पाप नहीं अज्ञान--चोट अज्ञान पर करनी है और वह चोट ज्ञान से ही हो सकती है। अंधकार पर चोट करनी है, तो वह चोट प्रकाश से ही हो सकती है।
प्रकाश से चोट करें--ज्ञान से चोट करें--जागरण से चोट करें। प्रकाश को जलाने में लगें और फिर देखें कि क्या होता है?
अंधकार क्या है? अज्ञान क्या है? वे तो मात्र अभावों के नाम हैं! अपने में उनका कोई होता नहीं! उनके भीतर वे कुछ भी नहीं हैं! स्वयं में वे एकदम खाली हैं। समझ रहे हैं कि मैं क्या कह रहा हूं? एक दिन किसी से मैंने पूछा कि प्रकाश क्या है? उन्होंने कहाः "अंधेरे का न होना।" यह परिभाषा ठीक लगती है न? पर यह ठीक नहीं है। भाषा की दृष्टि से तो ठीक ही है, पर सत्ता की दृष्टि से नहीं।
प्रकाश अंधेरे का न होना नहीं है। प्रकाश तो प्रकाश का ही होना है। वह किसी का न होना नहीं, अपना ही होना है। उसकी स्वयं की सत्ता है। अंधेरे को तो हम कह सकते हैं कि वह प्रकाश का अभाव है। पर प्रकाश को नहीं कह सकते कि वह अंधेरे का अभाव है। यह इसलिये नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अंधेरा हो तो अंधेरे को हटाकर प्रकाश नहीं किया जा सकता। और प्रकाश न हो तो अंधेरे को लाकर उसे नष्ट ही किया जा सकता है। अंधेरे के साथ और अंधेरे के द्वारा कुछ भी नहीं किया जा सकता है। उसके साथ जो भी करना हो वह उसके साथ नहीं, प्रकाश के साथ करना होगा। इसलिये प्रकाश तो सत्ता है, अंधेरा सत्ता नहीं, वह प्रकाश की असत्ता मात्र है।
और ऐसा ही पाप है। और ऐसा ही अज्ञान है। और ऐसा ही संसार है। इनसे जो सीधा लड़ता है वह पागल है और जो लोगों को ऐसा सीधा लड़ने को समझाता है, वह उन्हें पागल होने की राह बताता है। सभ्यता जैसे बढ़ती है, विक्षिप्तता बढ़ती जाती है। इसका कारण क्या है? सभ्यता पागलों को क्यों पैदा करती है? इसका कारण दमन है। इसका कारण बिना प्रकाश जलाये, अंधेरे से लड़ना है।
और बहुत-से साधक और साधु जो पागल हो जाते हैं, उसका कारण भी यही है। उनका उन्माद और तथाकथित विक्षिप्त मस्ती परमात्मा से नहीं, वासनाओं के दमन से आती है। स्वास्थ्य के नहीं, वे सब विक्षिप्तताओं के ही रूप हैं।
सम्यक साधना उन्माद में नहीं, उन्माद-मुक्ति में ले जाती है और उससे मस्ती नहीं आनंद का जन्म होता है। मस्ती आवेश है, उत्तेजना है। आनंद आवेश-शून्य, आवेग-रहित, अनुत्तेजना की अत्यंत शांत स्थिति है। मस्ती दमन से और आनंद विसर्जन से आता है। मस्ती मानसिक है, आनंद आत्मिक है। मस्ती रुग्णता है, आनंद स्वास्थ्य है। मस्ती सुख है, वह मादक है। वह दुख की और होश की विरोधी है। आनंद सुख-दुख का अभाव है। आनंद पूर्ण शांति है।
वास्तविक धर्म का संबंध मस्ती से नहीं, आनंद से है।
मस्ती के दौरे होते हैं और उनके बाद बहुत दुख और रिक्तता का बोध होता है। वह नशा है और नशे की भांति ही उसमें बार-बार जाने की इच्छा होती है। मस्ती में सब भूल जाता है। वह ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। आनंद आता है, तो जाता नहीं है। वह स्वरूप है, आवेग नहीं। वह ऊपर से आरोपण नहीं, अंतस का आरोहण है। आनंद मूर्च्छा नहीं, ज्ञान है। मस्ती भ्रम है, आनंद अंतस की वास्तविक क्रांति है। इसलिये ध्यान रहे कि हमारा लक्ष्य आनंद है, मस्ती नहीं। उन्माद नहीं, अप्रमाद--मादकता नहीं, अप्रमत्तता जीवन का लक्ष्य है। वासना शक्ति का दमन चित्त के संतुलन को नष्ट करता है। उस असंतुलन में अनेक कल्पनायें साकार रूप धरने लगती हैं। बहुत-से प्रक्षेप, प्रोजेक्शन और भ्रांत के साक्षात होने लगते हैं। जो नहीं है, वह दीखने लगता है। इन्हें ही लोग धार्मिक अनुभूतियां समझ बैठते हैं। ईश्वर और देवी-देवताओं के भी साक्षात हो जाते हैं। वे न तो साक्षात हैं, न ही अनुभूतियां हैं। मन की स्वप्न देखने की जो क्षमता है, उसके ही ये खेल हैं। मन का जो अल्प-सा अंश चेतन है, वह भी यदि किसी भांति मूर्च्छित हो जावे, तो जागते में ही स्वप्न-

64

शक्ति सक्रिय हो जाती है। और जो पूर्व धारणाएं चित्त में घर किये हों, वे सत्य जैसी भासने लगती हैं। इस भांति संसार से तो संबंध टूटता है, पर सत्य से नहीं, स्वप्न से जुड़ जाता है। चित्त का असंतुलन यही कर सकता है। सत्य से संबंधित होने के लिये तो उसका पूर्ण संतुलन चाहिये। चित्त जब सहजता और संतुलन की स्थिति में आता है, तभी उसके द्वार सत्य के लिये खुलते हैं। वह संतुलन ही द्वार है।
चित्त का संतुलन कैसे हो? दमन और संघर्ष से नहीं, मैत्री, प्रेम और निरीक्षण से--वासना के विसर्जन और संपरिवर्तन से वह होता है।
क्या आपको ज्ञात है कि आप अपने से जरा भी प्रेम नहीं करते? आपकी स्वयं
के प्रति जो घृणा है, वही दमन, संघर्ष और आत्मविग्रह का रूप ले लेती है। हम अपने से भी प्रेम नहीं करते हैं! क्राइस्ट ने कहा हैः "अपने पड़ोसी को अपने जैसा ही प्रेम करो।" मैं पूछता हूं कि आप अपने से भी प्रेम कहां करते हैं? पड़ोसी तो दूर है, पहले अपने से तो प्रेम करो! जो अपने से प्रेम करता है वह सबसे प्रेम करने लगता है। प्रेम तो भाव की अवस्था है। वह भीतर हो तो सहज ही सर्व के प्रति व्याप्त हो जाती है। आत्म-त्याग, सेल्फ रिनन्सिएशन नहीं, आत्म-प्रेम, सेल्फ-लव--इस पर चिंतन करो--सोचो और आप पाओगे कि आत्म-प्रेम ही वास्तविक आत्म-त्याग है। और जिसे हम त्याग करके जानते हैं, वह सब प्रच्छन्न स्वार्थ, सेल्फिशनेस ही है।
प्रेम करो--स्वयं को प्रेम करो। अपने प्रति प्रेम से भरो। उससे बहुत ऊर्जा का जन्म होता है। प्रेम अदभुत शक्ति है। और जब आप स्वयं अपने प्रति प्रेम से भरते हो, तो चित्त अपने रहस्य क्रमशः खोलने लगता है और उसके प्रेमपूर्ण निरीक्षण से उसके भीतर आपका प्रवेश होता है। प्रेम संतुलन लाता है; घृणा और दमन नहीं। प्रेम निरीक्षण को संभव बनाता है; घृणा और विरोध नहीं। इसलिये मुझे आज्ञा दें कि मैं आपको स्वयं अपने से प्रेम करना सिखाऊं।
यह कहना कैसा अजीब लगता है, पर सत्य यही है कि हम अपने से ही प्रेम नहीं करते हैं। और जो अपने से प्रेम नहीं करता, वह अपना सम्मान भी नहीं करता। वह अपने जीवन का भी आदर नहीं करता। और इसलिये उसे कैसे भी व्यय और व्यतीत करता है।
एक रात्रि एक व्यक्ति क्रोध में मुझे न मालूम क्या-क्या कह गये थे। उनके जाने पर किसी ने पूछा था, "आपने उन्हें कुछ कहा नहीं? हम तो बहुत क्रोधित हो गये थे, किंतु आप चुप थे, किसलिए चुप रहे?" मैंने कहा--"मैं अपने आपको इतना प्रेम करता हूं कि क्रोध करना मुझे संभव नहीं है। क्रोध न करके उन पर नहीं, स्वयं पर ही मैंने दया की है। क्रोध तो अग्नि है, वह स्वयं को ही जलाती है और जो अपने को प्रेम करता है, वह कैसे उसे अपने भीतर सुलगा सकता है?" स्वयं से प्रेम का अभाव ही अनाचरण बन जाता है। सदाचरण स्वयं से प्रेम का परिणाम है।
मैं जितना अपने और अपने जीवन के प्रति प्रेम से भरता गया, मैंने पाया
कि जिसे हम अशुभ कहते हैं, उसका करना अपने आप असंभव हो गया। फिर यह भी पाया कि जिसे शुभ कहें, उसके फूल भी जीवन में अनायास लगने लगे। प्रारंभ में अपने से प्रेम शुरू किया था, फिर जाना कि वह तो सबसे प्रेम बन गया है! देखो--अपने से प्रेम करके देखो। जीवन की जो ज्योति आप में है, उसे प्रेम करो। उसका प्रेम आपमें बहुत सृजनात्मकता, क्रिएटीविटी पैदा करेगा। भोग भी स्वयं का ध्वंस है। दमन भी ध्वंस, डिस्ट्रक्शन है। वे दोनों विनाश हैं और आत्मघाती, सुइसाइडल हैं। प्रेम सृजन है। उस भाव-भूमि में परिवर्तन के आधार रखे जाते हैं और जीवन ज्योति ऊर्ध्वगामी होती है। जिन्हें ऊपर जाना है, उन्हें प्रेम की सीढ़ी है।
स्व-सत्ता से प्रेम "विधायक धर्म", पाजिटिव रिलीजन की अनिवार्य शर्त है। उसके अभाव में धर्म पैदा भी हो तो वह नकारात्मक, निगेटिव ही होगा। हम जो धर्म विहीन हुए हैं और हमारा युग जो अधार्मिक दीख रहा है, उसका मूल कारण विज्ञान की भौतिकता, मटिरियलिज्म और नास्तिकता नहीं है, न ही धर्म विरोधी विचार हैं। उसका मूल कारण हैः धर्म की नकारात्मकता।

नकारात्मक धर्म--ऐसा धर्म जो कि जीवन के निषेधों पर खड़ा है, बहुत दिन
तक जीवित नहीं रह सकता है। नकार की परिणति मृत्यु है। धर्म की नकारात्मकता, उसका जीवन-निषेधक, लाइफ-निगेटिव रूप अपना घात स्वयं ही कर लेता है। उसे मारा नहीं जाता, वह स्वयं ही मर जाता है। जीवंत धर्म, लिव्हिंग रिलीजन जीवन-निषेधक नहीं होता है। वह किसी इनकार पर नहीं, किसी स्वीकार पर खड़ा होता है। उसका प्राण "नहीं" नहीं, "हां" होता है।
एक साधु एक अपरिचित और अजनबी देश में मेहमान था। वह एक आश्रम में ठहरा। उस आश्रम के प्रधान ने अपने आश्रम के अंतेवासियों की प्रशंसा में उससे कुछ बातें कहीं। उसने कहा, "हमारे साधु असत्य नहीं बोलते, हिंसा नहीं करते, परिग्रह नहीं रखते, मदिरा नहीं पीते" और वे जो-जो नहीं करते थे, उसने वह सब बताया। उस अतिथि साधु ने सब सुनकर कहा, "क्षमा करें और एक बात पूछने की आज्ञा दें। मैं यह तो समझ गया कि आपके साधु क्या-क्या नहीं करते हैं, अब मैं यह जानना चाहता हूं कि वे करते क्या हैं?"
यही मैं भी पूछना चाहता हूं। सबसे सब जगह यही पूछ रहा हूं। वह प्रीतिकर न भी लगे तो भी पूछना ही होगा। आपसे प्रेम है, इसलिये पूछना ही होगा, आप जिसे धर्म मान रहे हैं, वह किसी विधायक साधना पर खड़ा है या कि किन्हीं "न करने" की निषेध आज्ञाओं पर? धर्म आपका जीवित है या कि मृत? जीवित धर्म पार ले जाता है और मृत डुबा देता है। वह जीवन-दृष्टि मृत है, जो "नहीं करने" पर निर्भर होती है। वह धर्म नहीं, धर्म का पतन है। वह धर्म का आभास मात्र है।
धर्म जब अपने विधेय को, योग को खो देता है, तब वह नकार आज्ञाओं का संकलन मात्र रह जाता है। धर्म का ऐसा नकार रूप ही नीति, मारलिटी है। नीति धर्म का पतन है। वह धर्म की मृत्यु है। नीति का अर्थ है नकार। यह न करो, वह न करो--यही उसका रूप है। छोड़ना और त्यागना उसका प्राण है। उसे यदि पूरा माना जावे, तो आत्मघात ही परिणाम होगा। उसका चरम तार्किक परिणाम यही होगा कि जीना मात्र अनैतिक है। केवल मृत्यु ही पूर्ण अर्थों में नैतिक हो सकती है, क्योंकि मृत्यु में ही "न करना" पूरा होता है।
धर्म नकार नहीं है। वह पूर्ण विधेय है। और पूर्ण जीवन को पाने का मार्ग है। वह "न करना" नहीं, वरन "कुछ करना" है। वह त्यागना और छोड़ना नहीं वरन पाना है। धर्म चरम उपलब्धि है। वह अंधकार विनाश नहीं, प्रकाश का प्रदीप्त होना है। निश्चय ही प्रकाश के आने से अंधकार नष्ट होता है, किंतु वह धर्म की साधना नहीं, साधना का अपरिहार्य परिणाम है। निश्चय ही धर्म को पाने से बहुत कुछ छूटता है, पर वह "छोड़ना" नहीं "छूटना" है। और उन दोनों में बहुत भेद है। "छोड़ना और त्यागना" दमन है, आत्महिंसा है; "छूट जाना" विसर्जन है, मुक्ति है।
धर्म विनष्ट हुआ है, नकारात्मक आधारों से। उसे पुनर्जीवित करना है तो विधायक आधार देने होंगे। मृत्यु पर नहीं, जीवन पर धर्म को खड़ा करना होगा। त्याग का संकोच नहीं, उपलब्धि का विस्तार उसे देना होगा। छोड़ने की निराशा नहीं, पाने की आशा और उत्साह से उसे परिपूरित करना होगा। तभी आपके मरणासन्न प्राणों में पुनः शक्ति का संचार होगा और आपकी अंधकार से भरी आंखें सूर्य की ओर उठ सकेंगी।
इसलिये मैं अपने दोनों हाथ उठाकर आपको पुकार रहा हूं कि उठो, और धर्म
की विधायकता का उदघोष अपने जीवन में करो। मैं चाहता हूं कि आपका जीवन दिव्य आनंद की घोषणा बने और उस परम सत्य के आधार रखे जा सकें, जो कि हमने अपने ही हाथों नष्ट कर दिये हैं।
धर्म की विधायकता का सिंहनाद अत्यंत आवश्यक है। उससे ज्यादा बहुमूल्य आज कुछ भी नहीं है--कभी भी नहीं था। धर्म को खोकर हम मनुष्य को बहुत दिन नहीं बचा सकते हैं। धर्म नहीं लौटा तो मनुष्यता को भी गया हुआ मान लेना चाहिये। मनुष्य की नीवें हिल गई हैं और वह विनाश की कगार पर खड़ा है। उसके ऊपर बाहर से कोई संकट नहीं है। संकट, क्राइसिस उसके भीतर है। उसका संकट उसका स्वयं से टूट जाना है। उसका संकट धर्म को भूल जाना है।

अपने भीतर देखो। क्या वहां संकट नहीं है? क्या हमारी जड़ें जीवन की भूमि से टूट नहीं गई हैं?
और अपने बाहर भी देखो। क्या जो आपके साथ हुआ है, वही सबके साथ नहीं हुआ है?
और सोचो कि यह सब क्यों हुआ है?
मनुष्य क्यों मर रहा है? क्या इसका कारण यही नहीं कि हम वह मार्ग भूल गये हैं जो हमें जीवन के मूल-स्रोत से जोड़ता है? क्या इसका कारण यह नहीं है कि विश्वसत्ता से हम वियुक्त हो गये हैं?
समस्त संकटों का कारण यही है। मनुष्य की सारी रुग्णता का कारण यही है। धर्म का विस्मरण--धर्म की विस्मृति हमारे दुख और दुर्भाग्य के मूल में है।
और धर्म भूला जा सका, विस्मृत किया जा सका, उसके जीवन विरोधी रुख के कारण। उसकी मृत्योन्मुखी धारा के कारण हम क्रमशः धर्म से टूटे और अलग हुए। वह अमृत की तलाश न रहा और मृत्यु की साधना बन गया। वह आनंद का अन्वेषण न रहा और दुख से संघर्ष का पथ हो गया। वह प्रभु की खोज न रहा और संसार-त्याग बन गया। इस नकार दृष्टि ने हमें धर्म से वियुक्त किया है। इस पर मनन करें। इस सत्य को देखें और सजग हों।
इस निदान की सजगता से ही--धर्म की इस मिथ्या धारा के प्रति सचेत होने
से ही--धर्म की सत्य अंतरात्मा को समझा और जाना जा सकता है और उसे जीने के लिये कदम उठाये जा सकते हैं। विचार में उसे प्रथम जानना होता है, जिसे कि आचार में जीना हो। आचार के प्रथम चरण विचार में ही रखे जाते हैं। विचार ही, विवेक ही अंततः आचार बन जाता है।
विचार शक्ति है। मनुष्य के पास सबसे बड़ी शक्ति वही है। उसके ऊर्ध्वगमन के लिये वही उसका साथी है। पर इस शक्ति को हम दूसरों के उधार विचारों से दबाये रखते हैं। और कभी सक्रिय नहीं होने देते। पर विचारों के कारण स्व-विचार पैदा ही नहीं हो पाता है। विचारों को अलग करें और "विचार" को जगावें। फिर "विचार" के प्रकाश में देखेंगे तो जिस तथ्य की ओर मैं इंगित कर रहा हूं, उसका दर्शन होगा। यह मेरा मत नहीं है। मैं केवल तथ्यों की बात कर रहा हूं।
धर्म नकारात्मक कैसे हो जाता है?
धर्मानुभूति तो सदा विधायक होती है, पर जो उसे स्वयं नहीं जानते और जीते उसके लिये यह नकारात्मक प्रतीत होगी। दूसरों से जो जानते हैं-- दूसरों में देखकर जो जानते हैं, वे उसके नकारात्मक रूप को ही देख पाते हैं। वह रूप धर्मानुभूति की देह है। चर्म-च्रुओं से केवल उसका ही दर्शन होता है। बाहर से धर्म की अंतरात्मा नहीं दिखती और इससे ही भ्रांति का जन्म और पोषण होता है।
धर्म जो है--उस अनुभूति का स्वयं में जो रूप है, वह बाहर से नहीं, भीतर प्रवेश करके ही जाना जा सकता है। और कोई मार्ग नहीं है। धर्म के स्वरूप को स्वयं की अनुभूति से ही जाना जाता है। किसी और की अनुभूति उस रहस्य को किसी दूसरे के समक्ष नहीं खोल सकती। उस भांति जो समझने चलते हैं, वे धर्म की देह पर ही रुक जाते हैं।
धर्म का विषयगत, आब्जेक्टिव ज्ञान संभव नहीं। उसका तो प्रेम की भांति सदा विषयीगत, सब्जेक्टिव ज्ञान ही होता है। प्रेम में होकर ही प्रेम जाना जायेगा--धर्म में होकर ही धर्म। बाहर से और दूर से--दर्शन की भांति जो जाना जाता है, वह सत्य नहीं होगा। धर्म को दर्शक की भांति नहीं जानना है--उसे तो जीना होगा और तभी उसकी विधायकता अनुभव होगी। उसमें डूबकर और मिटकर ही उसका परिचय होता है।
किंतु अधिकतर लोग स्वयं धर्म-प्रविष्ट नहीं होते और दूसरों में हुए परिवर्तनों को देखकर ही धर्म का अनुमान लगाते हैं। यह अनुमान बिल्कुल ही असत्य होगा। क्योंकि वे आचरण को ही देखेंगे, अंतस को नहीं। और आचरण धर्म के संबंध में क्या बता सकता है? वह धर्म का प्राण नहीं, मात्र लक्षण है। इस

आचरण को देखकर जो धर्म का विचार होता है, वही नकारात्मक दृष्टि का जन्मदाता है।
अंतस में होती है सत्य-उपलब्धि, आचरण में होता है त्याग असत्य का।
अंतस में पैदा होता है ब्रह्मचर्य, आचरण में त्याग होता है काम, सेक्स का।
अंतस में जागता है प्रेम, आचरण में हिंसा शून्य होती है। अंतस से प्रभु आता है, आचरण से पशु विलीन होता है। अंतस प्रकाश से भरता है, आचरण से अंधकार तिरोहित होता है।
व्यक्ति की अंतरात्मा में जो अनुभूति घटित होती है, उसका क्रम यही है। पर बाहर से क्रम उलटा दीखता है। बाहर दीखता है कि असत्य, काम, हिंसा और अंधकार छोड़ा जा रहा है। बाहर से मात्र त्याग का ही प्रत्यक्ष होता है और उपलब्धि अनुमानित होती है। त्याग प्रत्यक्ष होता है, उपलब्धि मान्यता होती है। इससे ऐसी निष्पत्ति पैदा हो जाती है कि धर्म का मूल त्याग है। जबकि मूल उपलब्धि है और त्याग उस उपलब्धि का गौण परिणाम है।
महावीर को हमने देखा है। उसी मार्ग पर जाते और भी वीरों को देखा है।
पर हम उनके अंतस को नहीं देख पाये और हमने उन्हें देखकर जिस धर्म की कल्पना की है, वह मात्र उनके बाह्याचरण पर आधारित है। वह धर्म अधूरा और आंशिक है और मूल पर नहीं, गौण पर खड़ा है। उसकी भित्तियां ही हमने अज्ञान पर रखी हैं।
महावीर में हमने क्या देखा? देखा कि वे घर को, संपत्ति को, सुविधा को, मित्रों को, प्रियजनों को--सबको छोड़कर गये हैं। हमने देखा कि वे सब छोड़कर गये हैं। पर हम यह नहीं देख सके कि वे किस संपदा की गंध पाकर इस संपत्ति को छोड़कर गये? यह मात्र छोड़ना नहीं था। और कोई संपदा-राशि भी तो आकर्षित कर रही थी! यह त्याग नहीं था, कोई उपलब्धि बुला भी तो रही थी। असार को सार के लिए छोड़ना क्या मात्र त्याग ही है? घर से यदि कोई कूड़े-कचरे को बाहर कर देता है, तो क्या वह त्याग है?
नहीं, मित्र! मैं इसे त्याग कहने में असमर्थ हूं। उस शब्द की ध्वनि ठीक नहीं है। उसमें "छोड़ने" का जो भाव है, वह सम्यक नहीं है। कुछ और ही कहना होगा, क्योंकि "छोड़ने" से ज्यादा महत्वपूर्ण उस छोड़ने में "पाना" है। यद्यपि यह सत्य है कि जो छोड़ा जाता है, वही हमें दिखाई पड़ता है। क्योंकि उस स्थूल को ही जानने और पहचानने की हमारी क्षमता है।
हम जिसे प्राणों की भांति पकड़े हुए हैं, किसी के द्वारा उसी का छोड़ा जाना हमें "महान त्याग" दिखाई पड़ता हो तो आश्चर्य नहीं है! जो जितना ज्यादा धनलिप्सा से भरा होगा, उसे धन का त्याग उसी मात्रा में महान दिखाई पड़ेगा। और जिसकी जितनी ज्यादा कामेष्णा होगी वह उतना ही काम-त्याग से प्रभावित होगा। यही नियम है। इसलिये जब आप किसी त्याग को महान कहो तो स्मरण रखना कि उससे उस त्याग की महानता तो नहीं, किंतु आपकी उस दिशा में आसक्ति और पकड़ की सूचना अवश्य ही मिल जाती है।
हमारी स्थूल दृष्टि स्थूल के त्याग को देखती है और सूक्ष्म संपदा के लोक में वास्तविक संन्यासियों को जो मिलता है, वह हमें गोचर नहीं होता। काश! हमें वे जो पाते हैं, वह भी दीख सके, तो धर्म के संबंध में हमारी दृष्टि आमूल बदल जावे। तब धर्म मूलतः "पाना" मालूम हो, "छोड़ना" नहीं। महावीर के जीवन में एक त्याग तो हमने वह देखा, जब वे घर से गये। फिर बाद में और भी गहरे त्याग हमने देखे। हमने देखा कि उन्होंने हिंसा छोड़ दी है। पर हम उस दिशा और अनुभूति के संबंध में अंधे ही रहे, जिसे पाने से उनकी हिंसा छूटी थी। अत्यंत आंतरिक और सूक्ष्म को देख पाना हमें संभव नहीं हुआ, अहिंसा हमें उनकी साधना का मूलाधार मालूम हुई, जबकि मूलाधार कुछ और ही था, अहिंसा तो उस मूल का परिणाम और प्रकाशन थी। ऐसे ही हमने उनके समस्त विकार विलीन होते देखे। हमने माना कि वे विकार छोड़ रहे हैं। जबकि वे तो निर्विकार को पा रहे थे और विकार उनसे अनायास ही जा रहे थे। वह विकारों का त्याग नहीं, निर्विकार का आगमन था। एक दिन उनके जीवन में कोई अंधकार न रहा। हमने कहा, "उन्होंने सारा अंधकार छोड़ दिया है" जबकि अंधकार न कभी

किसी ने छोड़ा है और न छोड़ा जा सकता है। भीतर एक सूर्य का जन्म होता है और बाहर अंधकार नहीं पाया जाता है।
साधना सत्य को पाने की है, असत्य को छोड़ने की नहीं। वह अंधकार-त्याग नहीं, आलोक-उपलब्धि है, किन्तु जो हमें दिखाई पड़ता है, वह नकार, निगेटिव है। विधायक, पाजिटिव के हमें दर्शन ही नहीं होते हैं। हमारी इस मिथ्या- दृष्टि ने ही हमें सिकोड़ दिया है। उसने ही हमें मृत कर दिया है। धर्म से अधिक जीवंत, लिव्हिंग और कुछ भी नहीं है। लेकिन नकार पर आधारित करने से उससे अधिक मृत, डेड भी और कुछ नहीं होता।
धार्मिक जीवन से आनंद की किरणें विलीन हो गई हैं। ऐसे धर्म के ढांचे मुर्दों के रहने के लिये कब्रें तो हो सकते हैं, लेकिन जीवितों के विकास के लिये उनमें कोई संभावना नहीं। जहां उपलब्धि का आनंद न हो और विधायक सृजन का संगीत न हो, वहां जीवन के पौधे के लिये न भूमि है, न खाद है, न पानी है, न प्रकाश है। वहां उजड़ जाना ही पौधों का भाग्य होगा और मुरझाकर मर जाना ही उनकी नियति, डेस्टिनी होगी। इसलिये मैं कहता हूं कि नकार जीवन का नियम नहीं है और निषेध जीवन की पद्धति नहीं। वे जीवन के नहीं मृत्यु के आधार हैं। और जो उनसे चलता है, वह आत्मघात की दिशा में चलता है।
महावीर को, बुद्ध को, क्राइस्ट को--सभी को हमने गलत देखा है। वह गलत दृष्टि किसी एक समाज और संप्रदाय की ही वसीयत नहीं है। वह सार्वभौम है और सारे जगत की है। इसलिए सारे धर्म एक से ही विकृत और विक्षिप्त हो गये हैं। नकार के विष ने सभी को कुरूप कर दिया है और अंतःसत्ता विसंगति से भर गई है। जिनके जीवन धर्म के अमृत से पुनर्जीवित हुए हैं उनके बाहर जो दृश्य घटित हुआ, उसके प्रति ही हमारी खंडित दृष्टियां संवेदनशील रही हैं और उनके भीतर जो अदृश्य आंदोलन हो रहे थे, हम उनके प्रति अंधे रहे हैं। उनके भीतर जो हो रहा था वही वास्तविक था। वह हमें नहीं दीखा। उनके बाहर जो हो रहा था, वह उसका मात्र परिणाम था। मिलता सब कुछ आत्मा में है। छूटता सब कुछ शरीर पर है। किंतु शरीर दीखता और आत्मा दीखती नहीं।
हमारे सब धर्म तीर्थंकरों, बुद्धों और अवतारों के शरीर को देखकर निर्मित होते हैं। यही मूल भूल है। धर्म की नौकाएं इसी चट्टान से टकराकर टूट-फूट जाती हैं। और फिर इन टूटी-फूटी नौकाओं से यात्रा तो क्या होगी, उलटे उन्हीं को हमें सिर पर लेकर चलना होता है। मैं सारी पृथ्वी पर यही देख रहा हूं। धर्म की नौकाएं संसार के सागर में पार ले जाने के लिये नहीं, बल्कि धर्मानुयाइयों के सिर का बोझ बन गई हैं। वे ऐसे पंख नहीं हैं जो कि परम सत्य तक उड़ाकर ले चलें, बल्कि ऐसे मृत बोझ, डेड वेट हैं जिनके कारण गति ही असंभव हो गई है। क्या उन नौकाओं के बोझ से झुकी आपकी गर्दनें मुझे दिखाई नहीं पड़ रही हैं? और क्या आपके पंखहीन प्राणों की तड़फड़ाहट मुझे सुनाई नहीं पड़ती है?
धर्म नकार से मुक्त होकर ही ऐसी नौका बनता है, जो कि संसार के पार ले जाती है। और धर्म नकार से मुक्त होकर ही ऐसे पंख बनता है, जो कि आत्मा के पक्षी को सत्य के सूर्य तक ले जाने में समर्थ होते हैं।
इस वर्ष जब पतझड़ हो रही थी तब मैं एक संन्यासी के साथ वन में था। सारा
वन गिरे पत्तों से भरा था और पत्ते प्रतिक्षण गिरे ही जा रहे थे। उस संन्यासी से मैंने कहा कि आपको गिरे हुए और गिरते हुए पत्ते दिखाई पड़ रहे हैं, लेकिन क्या वे पत्ते भी दिखाई पड़ रहे हैं जो कि अभी अदृश्य हैं, लेकिन जल्दी ही उगेंगे और दृश्य हो जावेंगे? उन्होंने मुझे हैरानी से देखा और कहा, वे कैसे दिखाई पड़ सकते हैं? मैंने उससे कहा, "निश्चय ही वे दिखाई नहीं पड़ते हैं, लेकिन उनके लिये ही स्थान बनाने को पुराने पत्ते गिर रहे हैं। इनके गिरने के पूर्व उनका ऊगना प्रारंभ हो गया है। अदृश्य में वे अंकुरित हो गये हैं और उनके उस अदृश्य अंकुरण के कारण ही दृश्य में यह सारा परिवर्तन हो रहा है।"
इस सत्य को ही मैं धर्म के संबंध में भी सत्य पाता हूं। अदृश्य में जो उपलब्धियां अंकुरित होती हैं, उनके कारण ही दृश्य में त्याग फलित होते हैं। पुराने मृत पत्तों को जैसे नये और जीवित पत्तों के लिये स्थान रिक्त

कर देना होता है, वैसे ही आत्मा के अदृश्य लोक में जब सार्थक का उदय होना प्रारंभ होता है, तो आचरण के दृश्य लोक में निरर्थक का त्याग प्रारंभ हो जाता है।
ज्ञान त्याग नहीं करता। ज्ञान से त्याग होता है। वह अनायास ही होता है। उसके लिये वस्तुतः कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है। त्याग के लिये जहां प्रयास है, वहां अज्ञान है। अज्ञानी त्याग "करते" हैं, ज्ञानी से त्याग "होता" है। इसलिए अज्ञानी को त्याग का स्मरण होता है, उसमें उसकी अहंता तृप्त और पुष्ट होती है। ज्ञानी को त्याग का स्मरण भी नहीं होता। उसे ज्ञात नहीं होता कि क्या उससे छूट गया है। उसकी स्मृति और प्रज्ञा, जो मिला है उसके आनंद में मग्न होती है। जिसने सिर्फ छोड़ा है और कुछ भी पाया नहीं, स्वाभाविक ही है कि उसका चित्त उसी त्याग को विचारे और स्मरण करे। उस दरिद्र की संपत्ति वही है। जैसे शरीर में कहीं घाव हो तो चित्त बार-बार वहीं दौड़ आता है। ऐसे ही अज्ञानी जो छोड़ता है, उसकी स्मृति वहीं पहुंच जाती है। ज्ञान के अभाव में त्याग--उपलब्धि-शून्य त्याग--एक प्रकार का घाव ही है। वह पके पत्तों का गिरना नहीं, कच्चे पत्तों का तोड़ना है।
किसी व्यक्ति के हाथ में कंकड़-पत्थर हों और फिर वह रत्नों के ढेर को
पा ले, तो वह क्या करेगा? क्या वह उन कंकड़-पत्थरों को छोड़ने का विचार करेगा? क्या उन्हें छोड़ने के लिये उसे प्रयास करना होगा? या कि वे छूट जावेंगे और उसे उनके छूटने का पता भी चलेगा? और जब वह कंकड़-पत्थर छोड़कर रत्नों को बटोरेगा तो क्या उसे हम त्याग कह सकेंगे? और क्या उस व्यक्ति को बाद में उन छोड़े गये कंकड़-पत्थरों की स्मृति आयेगी और वह उन्हें छोड़ सका, इसके लिये गौरव अनुभव करेगा? मैं इन प्रश्नों के कोई उत्तर नहीं दूंगा, क्योंकि वे उन प्रश्नों में ही निहित हैं।
वह त्याग त्याग नहीं है, जिसे करना पड़े। और वह त्याग भी त्याग नहीं है, जिसकी कि स्मृति बनी रहे। ऐसा त्याग उपलब्धि-शून्य और अज्ञानपूर्ण है। इस तरह के त्याग से कोई कहीं नहीं पहुंचता, विपरीत वह अहंकार को प्रगाढ़ करता है, जो कि मुक्ति-पथ में सबसे बड़ा अवरोध है। अज्ञानपूर्ण त्याग से स्वभावतः ही "मैं" मजबूत होता है, क्योंकि उसमें "मैंने त्याग किया है", इस भाव का सतत आवर्तन है। ऐसा त्याग "मैं" भाव को इतना घनीभूत कर देता है कि उस व्यक्ति में "अहं" के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। और "अहं" जितना घनीभूत हो, "ब्रह्म" से दूरी उतनी ही ज्यादा हो जाती है। तथाकथित साधु और संन्यासियों में जो अहंकार और क्रोध साकार रूप ले लेता है, उसका कारण उपलब्धि-शून्य त्याग ही है। उनके अहंकार और क्रोधोन्मत्त अभिशापों की कथाओं से कौन परिचित नहीं है? मैं तो हमेशा आश्चर्य करता हूं कि हम कैसे भले लोग हैं, उन्हें आज भी ऋषि-महर्षि कहे जाते हैं!
त्याग वास्तविक हो तो सहज होता है और उसकी कोई रुग्ण स्मृति शेष नहीं
रह जाती है। वास्तविक त्याग से मेरा अर्थ है कि जिसके मूल में और केंद्र में उपलब्धि हो। उपलब्धि की भूमि पर जो खड़ा हो, वह त्याग अत्यंत सहज और सरल होता है। ऐसे त्याग से अहं-भाव विलीन हो जाता है और आंतरिक उपलब्धि व्यक्ति को अनंत कृतज्ञता और विनय से आपूरित कर देती है। ज्ञान का जो प्रवाह आता है वह "मैं" के सब कूड़े-कचरे को बहा ले जाता है और जो मिलता है वह प्रभु का प्रसाद मालूम होता है।
"मैं" आंतरिक दरिद्रता का लक्षण है, इसलिये जो अंतस में समृद्ध होते जाते हैं, वे कभी उससे पीड़ित नहीं होते। अहंकार दरिद्रता की और निरहंकारिता समृद्धि की सूचना है। "मैं-भाव" में हम अपनी दीनता-हीनता को छिपाते हैं और जो नहीं हैं, वह होने की घोषणा करते हैं। इसलिये स्मरण रहे कि अहंकारी से दीन-हीन इस जगत में दूसरा नहीं होता है। वह बहुत दया-योग्य है, क्योंकि उसके पास कुछ भी नहीं है। वह एक ऐसा भिखारी है जिसने कहीं से चुराकर बादशाह के वस्त्र पहन लिए हैं! और निश्चय ही एक भिखारी बादशाह के वस्त्रों में क्या और भी भिखारी नहीं लगने लगता है!
मैं जब भी त्याग से भरे त्यागियों को देखता हूं, तो उनकी आत्म-प्रवंचना पर बहुत दया आती है। त्याग हो, तो त्याग से भरा हुआ होना नहीं हो

सकता। जो सहज छूट गया है, उसकी स्मृति कैसी? उसकी स्मृति में रस कैसा! उसके कारण आत्म-प्रशंसा कैसी? वास्तविक त्याग अपने पीछे कोई रेखा नहीं छोड़ता है। जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं तो उनके पीछे कोई पद-चिह्न नहीं बनते हैं, ऐसी ही उड़ान सहज और सत्य त्याग की भी होती है। उसमें भी पीछे चिह्न नहीं छूटते हैं। यदि त्याग के भी चिह्न छूटते हों, तो त्याग मुक्त कैसे करेगा? जो अपने पीछे चिह्न नहीं छोड़ता है, उसी से मुक्ति आती है।
एक कथा स्मरण आ रही है। एक फकीर था--अत्यंत अपरिग्रही और त्यागी। वह
था और उसकी पत्नी थी। दोनों लकड़ियां काटते और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाते। संध्या जो पैसा बचता, उसे बांट देते। एक बार चार-छह दिन लगातार पानी गिरा। वे लकड़ियां काटने नहीं जा सके और उन्हें भूखा ही रहना पड़ा। भिक्षा वे मांगते नहीं थे और संपत्ति उनके पास थी नहीं। उनने वे दिन उपवास और उपासना में बिताये।
फिर जब पानी बंद हुआ, तो वे लकड़ियां काटने गये। जिस दिन वे लकड़ियां काटकर भूखे और थके वापिस लौट रहे थे, उस दिन एक घटना घटी। पति आगे था, पत्नी पीछे थी। पति ने राह के किनारे किसी राहगीर की स्वर्ण अशर्फियों से भरी थैली पड़ी देखी। उसने अपने मन में सोचा, "मैंने तो स्वर्ण को जीत लिया है। मैं तो कांचन मुक्त हो गया हूं। लेकिन मेरी पत्नी के मन में कहीं स्वर्ण देख प्रलोभन न आ जाये"--ऐसा विचारकर, ऐसे सोच से, ऐसी सदिच्छा से उसने उन स्वर्ण अशर्फियों को गड्ढे में ढकेल ऊपर से मिट्टी डाल दी।
वह मिट्टी डाल ही रहा था कि उसकी पत्नी भी पहुंच गई। उसने पूछा कि यह क्या करते हैं? उस साधु चरित्र व्यक्ति को बताना ही पड़ा, क्योंकि असत्य न बोलने का उसका व्रत था। उसने कहा, "यहां बहुत सी स्वर्ण अशर्फियां पड़ी थीं। मैं तो अपरिग्रही हूं। स्वर्ण पर मेरा मन नहीं आता। मैंने तो जान लिया है कि स्वर्ण असार है, लेकिन तुम स्त्री हो, अनेक दिन की भूखी-प्यासी हो, दुख और दरिद्रता के कारण कहीं उस स्वर्ण पर तुम्हारा मन न आ जावे, इसलिये मैंने उस पर मिट्टी डाल दी है।" यह सुन पत्नी चुपचाप आगे बढ़ गई। उसने उत्तर में कुछ भी न कहा। उसके पति ने पूछा, "तुम कुछ बोली नहीं? तुमने कोई प्रतिक्रिया नहीं की?" यह सुन वह रोने लगी। और उसने कहाः "मैं दुखी हूं कि तुम्हें अभी स्वर्ण दिखाई पड़ता है और मिट्टी पर मिट्टी डालते हुए देख मैं तुम्हारे लिये अति चिंता से भर गई हूं।"
मैं भी इसमें चिंता के लिये कारण देखता हूं। जो छोड़ा गया हो और जिसका त्याग न हुआ हो, उसका दीखना बंद नहीं होता है। विपरीत वह और भी प्रगट और प्रगाढ़ होकर दीखने लगता है। वह तो घाव की भांति अनुभव होता है। सतत ही उसकी प्रतीति बनी रहने लगती है। वह चित्त का आवास बन जाता है। जैसे पक्षी सब जगह उड़कर बार-बार अपने नीड़ पर लौट आते हैं, ऐसे ही चित्त उस पर लौटने लगता है। इस भांति जिसे हम छोड़ा हुआ जानते हैं, वही हमारा पकड़ा हुआ हो जाता है। उसके ही विचार और उसके ही स्वप्न मन को घेरते हैं और उसकी ही चाह अंतस्तल में सरकती है। ऐसा त्याग, त्याग नहीं दमन है। और दमन से जीवन द्वंद्वमुक्त नहीं और भी द्वंद्वग्रस्त हो जाता है।
धर्म छोड़ना नहीं सिखाता। धर्म तो उस विधि को सिखाता है जिससे जो व्यर्थ है, वह अपने आप ही छूट जाता है। वैसे छूट जाने का नाम ही त्याग है। वह विधि श्रेष्ठ को, सार को, सत्य को पाने की है। निकृष्ट, असार और असत्य उसे पाने से अपने आप ही मरण को प्राप्त होता है। अंधेरे से मुक्ति तभी है जब प्रकाश का आगमन हो जाता है।
मैं एक यात्रा पर था। किसी ने वहां कहा, "महावीर ने हिंसा छोड़ी, अब्रह्मचर्य छोड़ा, असत्य छोड़ा।" मैंने उनसे कहा, नहीं, महावीर ने हिंसा नहीं छोड़ी, अब्रह्मचर्य नहीं छोड़ा, असत्य नहीं छोड़ा। ऐसी झूठी बात उनके लिए न कहें तो कृपा होगी। महावीर ने तो प्रेम पाया, सत्य पाया, ब्रह्म पाया। उन्होंने यह सब नहीं साधा जो आप यह कह रहे हैं और दुनिया कह रही है। उन्होंने तो केवल आत्मा साधी और उसे साधने में यह सब अपने आप ही सध गया। एक किसान गेहूं बोता है तो भूसा उसे अपने आप मिल जाता है, लेकिन क्या इससे कोई कहेगा कि उसने भूसा बोया? मित्र! बोया तो गेहूं ही जाता है और

भूसा उसके साथ ही मिल जाता है। और यदि कोई भूसा बोये तो उसे क्या मिलेगा? गेहूं तो उससे आयेगा नहीं, भूसा भी नहीं आयेगा। भूसा बोने वाला भूसा भी खो देगा। ऐसे ही अहिंसा या अपरिग्रह नहीं बोया जाता है, बोयी तो आत्मा जाती है और जब आत्मा की फसल आती है तो अहिंसा और अपरिग्रह भूसे की भांति अपने आप चले आते हैं।
और कुछ नहीं--बस, आत्मा को साधो और आत्मा को बोओ। उससे प्रथम और उससे प्रमुख और कुछ भी नहीं है। आत्मा जैसे-जैसे सधती है और जैसे-जैसे आत्मा के बीजों में अंकुर आते हैं, वैसे-वैसे ही आत्म-अज्ञान के कारण जो जीवन व्यवहार था, वह विलीन होता है।
अज्ञान कारण है--हिंसा का, परिग्रह का, प्रलोभन का। अज्ञान जायेगा तो
वे जावेंगे। उसके अतिरिक्त उनका जाना मान लेना भ्रांति है। अज्ञान के रहते उनका जाना मान लेना आत्म-वंचना, सेल्फ-डिसेप्शन है। मूल तो अज्ञान है। वे तो केवल लक्षण हैं। वे तो केवल उस मूल अज्ञान की सूचनाएं मात्र हैं। उन्हें जो लक्षण न समझ बीमारी ही समझ लेता है, उसकी जीवन-दिशा दिग्भ्रमित हो जाती है। वह कुएं से बचता और खाई में गिर जाता है। वह "भोग" से बचता है और तथाकथित "त्याग" में गिर जाता है।
यह स्मरण रखिए कि हिंसा और परिग्रह, ईर्ष्या और तृष्णा, काम और क्रोध,
ये लक्षण हैं, बीमारियां नहीं। बीमारी तो आत्म-अज्ञान है। बीमारी तो वह अविद्या है जिसके कारण मैं स्वयं ही स्वयं को नहीं जान पा रहा हूं। उस मूर्च्छा को तोड़ने से ये लक्षण अपने आप ही शून्य हो जाते हैं। लेकिन उस नासमझ को मैं क्या कहूं, जो बीमारी को भूल, लक्षणों को ही मिटाने में लग जाता हो? उसकी चिकित्सा में न निदान है, न चिकित्सा है। और उसकी चिकित्सा के परिणाम में बीमारी तो नहीं बीमार के ही मिट जाने की ज्यादा संभावना है। धर्म के जगत में ऐसे नीम-हकीमों ने बहुत हानि पहुंचाई है। वे लोग ज्यादा सौभाग्यशाली हैं, जो उनके उपदेश से बच जाते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित चिकित्सा में शरीर ज्वरग्रस्त हो, तो शरीर के उत्ताप को किसी भांति कम करना या दबा देना ही प्रधान बात है। जबकि शरीर-उत्ताप बीमारी का लक्षण मात्र है। वह तो शरीर की आंतरिक अस्वस्थता और रुग्णता की सूचना भर है। वह बीमारी नहीं, बीमारी की खबर है। बीमारी तो कहीं भीतर है और गहरे में है। और बीमारी की ये सूचनाएं वस्तुतः शत्रु नहीं, मित्र हैं। क्योंकि उनके अभाव में तो बीमारी का पता भी नहीं चल सकता है!
प्रकृति की यही व्यवस्था है कि भीतर बीमारी हो तो वह बाहर लक्षण प्रगट कर देती है। और जो साधारण बीमारियों के संबंध में सत्य है, वही उन बीमारियों के संबंध में भी सत्य है जिन्हें हम हिंसा, असत्य और अब्रह्मचर्य कहते हैं। बाह्य और आंतरिक प्रकृति के मौलिक नियम भिन्न नहीं हैं। ये सूचनायें हितकारी हैं और इसलिये ही मिलती हैं कि हम अपनी अंतर्दशा के प्रति सचेत और सावधान हो जावें और उनके उपचार के लिये मार्ग और औषधि खोजें। जो ऐसा न करके उन सूचनाओं को दबाने में लग जाते हैं, वे अपने ही शत्रु हैं।
मित्र! लक्षणों को सीधा नहीं, बीमारी को मिटाकर ही मिटाना होता है। उनकी मृत्यु परोक्ष ही होती है। और उनकी परोक्ष मृत्यु में भी शुभ है। जो उनको सीधा ही अंत करने में लगा है, वह अंतस में छिपी बीमारी की रक्षा कर रहा है। सतत संघर्ष से यदि वे लक्षण क्षीण हो गये और उसे मूल बीमारी की सूचना मिलनी बंद हो गई, तो उसका इससे बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं हो सकता है। मेरे प्रिय! यदि आपके भीतर हिंसा है, घृणा है, क्रोध है, यदि आपके भीतर मोह है, तृष्णा है, ईर्ष्या है--तो सीधे इन्हें नहीं, बल्कि उसे मिटाना है, जिसकी कि ये संततियां हैं। ये प्रकृति की सूचनाएं हैं--ये आपके अंतस चेतना में भेजी गई खबरें हैं। इन्हें समझें और इनके संदेश को पढ़ें। इनकी निंदा में पड़े रहने से कुछ भी न होगा और न ही इनके विपरीत धारणाओं के व्रत और प्रतिज्ञाएं लेने से कुछ होना है। इन सबका इशारा क्या है और किस तरफ है? क्या ये सब एक ही केंद्र की ओर इंगित नहीं कर रही हैं? वह केंद्र आत्म-अज्ञान है। भीतर घना अंधकार है। उस अंधकार से ही उत्पन्न ये पुत्र-

72

पुत्रियां हैं। उस अंधकार की ही ये शाखा-प्रशाखाएं हैं। चलें! यदि कुछ करना ही है तो उस मूल को लक्ष्य बनावें और उसे ही बेधें। उसकी मृत्यु ही इन सबकी भी मृत्यु बन जाती है।
धर्म बीमारी के लक्षणों को नहीं, बीमारी को ही दूर करता है। कोई भी वास्तविक चिकित्सा यही करेगी। और धर्म तो परम चिकित्सा है।
यह हम सोचें कि वह मूल रोग क्या है, जो प्रत्येक मनुष्य को पकड़े हुए है? वह रोग हमारे साथ ही पैदा होता है, और अधिकतर मामलों में हम मर जाते हैं, पर वह नहीं मरता! ऐसे बहुत कम भाग्यशाली लोग हैं, जो अपने मरने के पहले ही उसकी मृत्यु का दर्शन कर पाते हैं। पर यदि श्रम हो और संकल्प हो तो प्रत्येक उसकी मृत्यु का दर्शन कर सकता है। श्रम और संकल्प और साधना ही उस सौभाग्य की निर्मात्री है।
वह मूल रोग क्या है? "मैं कौन हूं?"--यह न जानना ही वह मूल रोग है। और
जो जान लेते हैं कि वे कौन हैं--उसे जो कि उनका प्रामाणिक होना, आथेंटिक बीइंग हैं, वे उस रोग से मुक्त होकर स्वस्थ हो जाते हैं। स्वस्थ यानी स्वयं में स्थित। जो स्वयं को जानते हैं, वे स्वयं में स्थित हो जाते हैं। वही परम स्वास्थ्य और सौभाग्य है।
स्वयं का ज्ञान स्वयं में लाता है, और स्वयं का अज्ञान स्वयं के बाहर
ले जाता है। स्वयं के बाहर होना ही अस्वास्थ्य है। वही मूल रोग है। स्वयं के बाहर होने और बाहर ही भटकने से बड़ी और कोई पीड़ा नहीं है। वही बुद्ध का "दुख" है और महावीर का "बंध" और क्राइस्ट के शब्दों में "स्वर्ग से निष्कासन।"
हम जब अपने से बाहर भटकते हैं और कोई आश्रय नहीं मिलता, जो कि वस्तुतः आश्रय हो और कोई शरण नहीं मिलती, जो कि वस्तुतः शरण हो, तो जो संताप पैदा होता है, वही अंततः धर्म की प्यास बन जाता है।
मनुष्य अपने से ही अपरिचित और अपने लिए ही अजनबी है। यह अज्ञान, असुरक्षा और भय पैदा करता है। जीवन के प्रति अज्ञान से ही भय पैदा होता है। और भय से हिंसा, परिग्रह और तृष्णा का जन्म है।
मैं स्वयं को ही न जानूं, इससे बड़ा त्रास और क्या हो सकता है? कैसा दुख
और कैसा आश्चर्य है कि मैं सब जानता हूं और स्वयं को ही नहीं जानता? हम इतने लोग यहां हैं। हम सब एक दूसरे को देख रहे हैं, लेकिन कोई भी स्वयं को नहीं देख रहा है। हमें सबकी उपस्थिति का पता है, पर अपनी उपस्थिति का कोई पता नहीं! उसको--उसकी उपस्थिति, प्रेजेंस को--जो आपके भीतर है, जानना है। उसके होने से आपका होना है और उसके न होने से आपका न होना हो जाता है। वह उपस्थिति ही आप हो। जो देह दीख रही है, वह नहीं, वरन जो उसके भीतर उपस्थिति है, वह आप हो। वह उपस्थित, वह सत्ता, वह चेतना, वह ज्ञान, वह बोध आपके भीतर है--वही आप हो, किंतु उसका ही बोध हमें नहीं है। वह बोध सबके प्रति उन्मुख है, उसे स्वयं के प्रति उन्मुख करना है। धर्म इसका ही विज्ञान है। आत्म-अज्ञान रोग है, धर्म उपचार है। और आत्म-ज्ञान स्वास्थ्य लाभ है।
यह स्वास्थ्य लाभ जीवन की सबसे बड़ी घटना और सबसे बड़ी क्रांति है। उसकी धुरी पर फिर सब बदल जाता है और विष अमृत हो जाता है और कांटे फूल बन जाते हैं। जहां घृणा थी, वहां प्रेम के फूल लगते हैं। और जहां हिंसा की अग्नि थी, वहां अहिंसा की शीतल हवाएं बहती हैं। उस ज्ञान के आगमन पर जहां अनाचार का अंधकार ही अंधकार था, वहीं आचार के आलोक-दीप प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सम्यक ज्ञान आधार है, सम्यक आचार उसका सहज परिणाम। सम्यक ज्ञान बीज है, सम्यक आचार है उसका सहज अंकुरण। इसलिए मूलतः ज्ञान साधना है। आचार उसके पीछे-पीछे अनिवार्य छाया की भांति चलता है। किंतु जो निषेध और नकार से चलेगा, वह आचरण साधेगा और ज्ञान के आने की प्रतीक्षा करेगा। वह ज्ञान को आचार का परिणाम मानता है, ऐसी दृष्टि मिथ्या है। जो विधायक धर्म को समझता है, वह ज्ञान को साधता है और आचार को परिवर्तित होते देखता है। अज्ञान केंद्र है अनाचार का, तो निश्चय ही ज्ञान केंद्र होगा सदाचार का। मेरे प्रिय! अनाचार को सदाचार में नहीं, मूलतः अज्ञान को ज्ञान में बदलना है। अज्ञान ज्ञान में परिणत हो तो अनाचार अपने आप आचार में बदल जाता

है। जैसे-जैसे ज्ञान का जागरण होता है, वैसे-वैसे ही अनाचार विसर्जित होता है। ऐसा मैंने स्वयं जाना है। मैंने स्वयं ही अपने भीतर यह घटित होते देखा है।
मैं जिस क्षण अपने प्रति जागा और लौटकर मैंने स्वयं को देखा, उसी क्षण
सब बदल गया। दूसरे ही क्षण मैं दूसरा व्यक्ति हो गया। और स्वभावतः पहले व्यक्ति के विलीन होने के साथ ही उसका संसार भी विलीन हो गया था। मैं दूसरा था, तो संसार भी दूसरा था। वस्तुतः हमारा संसार हम ही हैं। प्रत्येक अपना संसार है। और जिसे हम बाहर देख रहे हैं, वह भीतर का ही आरोपण है। जो भीतर है और जैसा भीतर है, वही बाहर पर आरोपित हो रहा है। संसार में हम दर्पणों के सामने खड़े हैं और अपनी ही मुखाकृतियों के दर्शन कर रहे हैं। भीतर घृणा है तो बाहर से घृणा ही आती मालूम होती है। और भीतर जब प्रेम का स्रोत फूटता है, तो सारे संसार का प्रेम स्वयं की ओर ही प्रवाहित होता दीखने लगता है। स्वयं को बदलो तो निश्चय ही संसार बदल जाता है। और स्वयं को बदलना हो तो स्वयं को जानना जरूरी है।
एक बार कुछ ग्रामीणों ने वर्षा में आई हुई नदी पार की थी। बहुत पूर था
और बहुत तेज उस नदी की धार थी। उस पार निकलकर उनने अपने आपको गिना था कि कहीं कोई नदी में छूट तो नहीं गया है? और स्वयं को न गिनकर उनके दुख का अंत न रहा, क्योंकि दस वे आए थे और गिनती में नौ होते थे। उन्होंने बार-बार गिना--उन सबने गिना, पर गिनती नौ ही होती थी। वे खोये हुए साथी के लिए बैठकर रोने लगे।
वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे। कुछ उनकी समझ में नहीं आता था कि अब क्या करें? और तभी एक अपरिचित व्यक्ति का वहां से निकलना हुआ था। उसने उन्हें रोते देख कारण पूछा। वे ग्रामीण रोते हुए बोले कि उनने अपने एक साथी को नदी में खो दिया है--दस आये थे और नौ ही रह गये हैं। उस व्यक्ति ने उनको गिना। वे तो दस ही थे। उसने उनसे गिनती करने को कहा तो देखा कि वे गिनते तो ठीक हैं, पर प्रत्येक अपनी गिनती को छोड़ जाता है।
उन ग्रामीणों की जो तकलीफ थी, वही तकलीफ इस दुनिया में प्रत्येक आदमी
की है। हम अपने को ही गिनना भूल जाते हैं! वे तो बेचारे कम से कम किसी साथी के खो जाने के कारण रो रहे थे, हम तो अपने ही खो जाने के कारण रो रहे हैं! सबका बोध है, अपना ही बोध नहीं है। सबको गिन लिया है, खुद को ही छोड़ गए हैं। इसका ही नाम अज्ञान है। खुद को गिन लें--चाहे सब छूट भी जावें--तो मैं उसे ज्ञान कहूंगा। क्योंकि जो अपने को नहीं गिन पाता है, उसका दूसरों को गिनना ठीक कैसे होगा? और जिसने अपने को गिन लिया है, उसने दूसरों को गिन ही लिया, क्योंकि सागर की एक बूंद को भी जो जान लेता है, वह सागर को ही जान लेता है। स्वयं को जानने वाला सर्व को जान लेता है और सर्व को जानने की चिंता
से ग्रस्त स्वयं को ही खो देता है।
क्या यह बात समझ में नहीं आती है? जो अपने भीतर ही चैतन्य उपस्थिति को नहीं जान रहा है, वह दूसरे के आकार को ही जान सकता है, आत्मा को नहीं। वह किसी की आत्मा को कैसे जानेगा? जो अपने ही आकार के भीतर नहीं गया, वह दूसरे के आकार को कैसे पार कर सकता है? स्वयं की देह पर ही जो रुक रहा है, वह सबकी देहों के बाहर ही रुक जावेगा। अपने में ही छिपी निकटतम चेतना जिसे अजनबी है, उसे ब्रह्मांड में व्याप्त चेतना से कोई संपर्क नहीं हो सकता है। स्वयं को ही जिसने अभी शरीर जाना है, उसे संसार पदार्थ है। जो स्वयं को आत्मा की भांति जान लेता है, विश्व उसे परमात्मा हो जाता है। स्वयं में जिसे जितनी गहराई उपलब्ध होती है, विश्वसत्ता में भी उसकी पहुंच उतनी ही गहरी हो जाती है। यह "स्व" तो द्वार है। और सत्य के लिए यह अकेला ही द्वार है। और कोई द्वार नहीं है।
इसलिये मैंने कहा कि जो स्वयं को नहीं जानता उसका सब जानना झूठा है।
और जो स्वयं को जान लेता है, वह बिना जाने भी सब जान लेता है। व्यक्ति के भीतर जो चिदगुण हैं, वह परमात्मा के सब रहस्यों को अपने में लिये हुए हैं।
छोटे-से बीज में जैसे वृक्ष छिपा होता है, ऐसे ही छोटे-से व्यक्ति में

विराट का आवास है। वह "स्व" ही नहीं, "सर्व" भी है। आत्मा आत्मा ही नहीं, परमात्मा भी है।
वह "एक" ही गिनने जैसा है, वह "एक" ही गुनने जैसा है। वह "एक" आप स्वयं हो। वह "एक" ही सब में बैठा है। उस "एक" के अतिरिक्त कहीं भी, कुछ भी नहीं है। जहां भी सत्ता है, जीवन है, अस्तित्व है, वहीं "एक" मौजूद है। लेकिन यदि उस "एक" को जानना है, तो सर्वप्रथम स्वयं में ही जानो। उस "एक" के लिए एक ही मार्ग है और वह आप स्वयं हो। स्वयं में जानकर वह फिर समस्त में जान लिया जाता है। वे भूल में हैं, जो उसे "पर" में जानना चाहते हैं, क्योंकि "पर" में तो कोई द्वार ही नहीं है।
सत्य का द्वार केवल स्वयं में ही है, इसे मैं पुनः स्मरण दिलाता हूं। स्वयं को जानना है, पर वहां तो बहुत अंधकार मालूम होता है। जन्मों- जन्मों का यह अंधकार है। शक्ति है हमारी अल्प, और अंधकार है पुराना। यह कैसे मिटेगा? लेकिन मैं आपसे कहूंगा कि अंधकार की कोई शक्ति नहीं होती। प्रकाश का क्षीण-सा आघात भी उसे भगा देता है।
अंधकार जैसा अज्ञान भी है। वह कितना ही घना हो और आवास उसका कितना ही पुराना हो, ज्ञान की एक किरण के समक्ष भी वह खड़ा नहीं हो सकता है। अभाव सदा ही कमजोर होता है। वस्तुतः तो वह होता ही नहीं है। यदि इस कक्ष में अंधेरा भरा हो--हजारों-हजारों वर्षों से भरा हो--और मैं आपसे कहूं कि एक दीया जलावें और इस अंधेरे को दूर करें, तो क्या आप मुझसे कहेंगे कि एक दीये से क्या होगा और इतना पुराना अंधकार एक नये-नये जले दीये से कैसे मिटेगा? नहीं, आप ऐसा नहीं कहेंगे, क्योंकि आप जानते हैं कि प्रकाश के लिए नये और पुराने अंधकार में भेद नहीं पड़ता है। उसके लिये दोनों ही समान हैं। और उसकी उपस्थिति दोनों के लिये समान रूप से मृत्यु है।
अंधकार पुराना ही होने से नहीं टिकता है। उसका टिकाव प्रकाश के न होने में है। प्रकाश झूठा हो या कि प्रकाश हो ही नहीं और उसके होने का भ्रम ही हो, तो अंधेरा टिक सकता है। एक व्यक्ति बुझा दीया लिये हुए अंधकार में खड़ा हो और सोचता हो कि अंधकार पुराना है, इसलिये नहीं मिटता है तो बात दूसरी है! यह मैं हंसी में नहीं कह रहा हूं। संसार में सदा ही बहुत लोग हैं जो कि बुझे दीये लिये हुए अंधकार को मिटाने की प्रार्थना किया करते हैं! वे सुन लें कि अंधकार प्रार्थना से नहीं, प्रकाश से मिटता है और बुझे दीयों को मात्र लिये फिरने से भी उसमें ज्योति आने की नहीं है। वह ज्योति हमें अपने ही प्राणों की अग्नि से डालनी होती है।
जो स्वयं में अग्नि को जलाता है, उसके ही हाथ के दीये में प्रकाश अवतरित होता है और उसकी ही राह से अंधकार सदा के लिये मिट जाता है। प्रकाश क्या जलाना है, स्वयं ही जलना है और प्रकाश बनना है।
हमारे हाथों में इन बुझे दीयों का ही इतिहास है। एक बाउल फकीर ने किसी गीत में कहा हैः "धर्म को उपलब्ध आत्माएं ज्ञान की जलती हुई मशालें लेकर आगे बढ़ती हैं। अंधेरे में भटकते हजारों अंधेजन आनंद और अनुग्रह से उनके पीछे हो लेते हैं। किंतु उन ज्योतिर्मय आत्माओं के देहपात के साथ ही उन अंधों में से ही कोई उन मशालों को उठा लेता है। लेकिन दूसरों को वे मशालें सदा बुझी हुई ही उपलब्ध होती हैं। क्योंकि उनका प्रकाश उनमें नहीं, वरन उन आत्माओं में ही था जिनके हाथों की वे शोभा थीं। मशालें तो बुझ जाती हैं, पर क्रिया-कांड के डंडे जरूर हाथ में रह जाते हैं।"
हमारे हाथों में बुझे दीयों का यही इतिहास है। ऐसे अंधे अंधों का नेतृत्व करते हैं और अंधकार से ही अंधकार को हटाने का प्रयास चलता है। मित्रो! बुझे दीयों को फेंको और स्वयं स्वयं के लिये दीया बनो। अपनी ज्योति को जलाओ। जो ज्योति किसी भी मनुष्य में कभी भी जली हो, वह आप में भी जल सकती है।
यह आत्म-श्रद्धा, यह आत्म-विश्वास--कि जो कभी भी किसी भी मनुष्य में संभव हुआ है, वह मुझ में भी हो सकता है--सत्य की यात्रा में अत्यंत प्राथमिक आवश्यकता है।

मनुष्य तो बीजों की भांति है। एक बीज वृक्ष बन सकता है, तो दूसरे बीज
भी अवश्य ही बन सकते हैं। एक हृदय प्रकाश से भर सकता है, तो सब हृदय भर सकते हैं। और एक व्यक्ति प्रभु को पा सकता है, तो सब पा सकते हैं।
मैं यदि उन ऊंचाइयों को न छू पाऊं जो मेरे ही किसी सजातीय बीज ने पाई हैं, तो स्मरण रहे कि दोष मेरी संभावना का नहीं--मेरा है। मेरी प्यास अधूरी होगी, मेरे प्रयास अधूरे होंगे, लेकिन इस कारण मेरी आत्मा अधूरी है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।
आत्माएं समान हैं अर्थात संभावनाएं, पोटेंशिअलिटी.ज समान हैं। आत्मा यानी आत्यंतिक, अल्टिमेट संभावना। वही हमारी आत्मा, एसेंशियल बीइंग है, जो होने की हमारी अंतिम और चरम संभाव्यता है। और किसी अर्थ में नहीं--इस अर्थ में ही प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा है।
इसलिये उस अंधेरे का चिंतन मत करो जो कि वस्तुतः चारों ओर घिरा है। क्योंकि उसके चिंतन से पुरुषार्थ जागता नहीं, उलटे और सो जाता है। और उस स्थिति पर भी केंद्रित मत बनो जिसमें कि आप अपने को पा रहे हो। क्योंकि वह आपकी स्थिति नहीं, केवल दुर्घटना है।
उसे देखो जो कि आप हो सकते हो। उसका चिंतन करो जिसे कि आप पा सकते हो।
आप यदि बट-बीज हो तो बट के विराट वृक्ष का मनन करो। आप जो पूर्ण होकर होओगे, वस्तुतः वही आप आज और अभी भी हो। अपनी आत्यंतिक गहराई में आपका होना इस क्षण भी वही है, जो आपकी आत्यंतिक ऊंचाई में कभी प्रगट होगा। गहराई और ऊंचाई एक ही है। बीज और विकास एक ही है। संभावना और सत्य एक ही है।
मैं बुद्ध हूं, मैं महावीर हूं, मैं कृष्ण हूं, अपने हृदयों के हृदय में इसे निरंतर जानो। अपने ब्रह्म होने को स्मरण करो। ओ अमृत पुत्रो! इस सत्य की विस्मृति ही संसार बन गई है।
इसलिये मैंने कहा है कि अज्ञान कितना ही घना हो उसके घनेपन की कोई चिंता नहीं, क्योंकि मैं तो आपके भीतर अनंत प्रकाश की संभावना देख रहा हूं। जो आपको नहीं दिखाई पड़ रहा है, वह मुझे दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि मैंने स्वयं में अंधकार को भी जाना था और अब आलोक को भी जाना है। उस घने अंधकार में जो कि आप हो, आलोक की एक किरण भी फूट पड़ी, तो वह अंधकार और उस अंधकार के साथी आप, दोनों का ही कोई पता नहीं चलेगा। अंधकार विलीन हो जावेगा और आप नवीन हो जावेंगे। वह आलोक किरण आप में अवश्य ही फूट सकती है। उसके होने की प्राथमिक झलक भी प्रत्येक में है।
जब आप अपने को नहीं जान रहे हैं, तब कम से कम इतना तो जान रहे हैं कि आप अपने को नहीं जान रहे हैं। अज्ञान का यह बोध ज्ञान का प्रथम चरण है। यह बहुत बड़ी बात है और बहुत बड़ी सूचना है और इसमें बहुत दूरगामी परिणाम अंतर्गर्भित है। ज्ञान की किरण की पहली झलक यही है। पत्थर में यह झलक नहीं है, पौधे में यह झलक नहीं है, पशु में भी यह झलक नहीं है। पत्थर में सत्ता है। पौधे में सत्ता और जीवन है। पशु में सत्ता, जीवन और चेतना तीनों। किंतु स्व-चेतना, सेल्फ-कांशसनेस सिर्फ मनुष्य में है। यह स्व-चेतना बहुत बड़ी संक्रांति की सीमा-रेखा है। यह बोध कि "मैं हूं" और यह बोध कि "मैं स्वयं को नहीं जानता हूं", वस्तुतः अर्ध स्व-चेतना है। स्व-चेतना पूर्ण तो तभी होगी जब मैं यह जानूं कि "मैं कौन हूं?" इस अर्ध स्व-चेतना को पूर्ण करना है। लेकिन, निश्चय ही, उसकी पूर्णता की ओर पहला चरण आत्म-अज्ञान का बोध ही है।
मनुष्य में जब स्व-चेतना पूर्ण हो जाती है, तो वह मनुष्यता का अतिक्रमण कर जाता है।
ज्ञान का पहला जागरण यही है कि मैं अपने को नहीं जानता हूं। इसे हम अज्ञान का अंतिम साथ भी कह सकते हैं। वस्तुतः यह अज्ञान से ज्ञान में संक्रमण का बिंदु है।
इसलिये धर्म सबसे पहले यही सिखाता है कि हम स्वयं को नहीं जानते हैं।
और जो-जो भ्रांतियां इस बोध में बाधा हों, जो-जो मिथ्या तादात्म्य इसमें आड़े आते हों, धर्म उन सब पर निर्मम आघात करता है। मनुष्य का अज्ञान उसके इसी मिथ्या ज्ञान में है कि वह स्वयं को जानता है। यह कैसा आश्चर्य है कि

यह भ्रम सभी को बना रहता है! यह भ्रम जैसे कि जन्मजात है और सार्वभौमिक है।
धर्म का संपर्क सबसे पहले इसी स्वप्न को तोड़ देता है।
स्वयं को जानने के स्वप्न से जाग जावें। आंखें खोलकर देखें। जो आपके आसपास हैं, वे ही अपरिचित नहीं, आप स्वयं भी अपने से अपरिचित हैं।
एक पत्र मुझे मिला था। लिखने वाले ने लिखा था कि वह मुझसे अपरिचित है। मैंने उससे पूछा है कि क्या वह स्वयं से परिचित है? यही मैं आपसे पूछता हूं। एक-दूसरे की ओर नहीं, अपनी ओर देखें। सुबह जब दर्पण के सामने खड़े हों तो क्षणभर को शांत और मौन होकर अपने से पूछें कि क्या मैं इस व्यक्ति को जानता हूं? रात्रि जब शैया पर लेटें तो अपने से पूछें, "क्या मैं स्वयं को जानता हूं?"
और आपको कोई भी उत्तर नहीं मिलेगा और आप जानेंगे कि आप अपने आपको नहीं जानते हैं।
यह जान लेना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इस बोध के बाद ही आगे कोई गति
हो सकती है।
मैं वह नाम नहीं हूं, जिससे कि मैं जगत में जाना जाता हूं। कैसा आश्चर्य है कि नाम-धाम को दूसरे मेरा परिचय मान लेते हैं और मैं स्वयं भी अपना परिचय मान लेता हूं! किसी का कोई नाम नहीं है। सब अनाम पैदा होते हैं। और पुनः अनाम ही विलीन हो जाते हैं।
अपने अनाम होने पर चिंतन करें। उससे नाम का भ्रम मिटता है और नाम से मुक्ति होती है। जानें कि आपका कोई नाम नहीं है और फिर अपनी ओर देखें। क्या वहां आप एक बिल्कुल अपरिचित सत्ता को नहीं पाते हैं? नाम की स्थिरता और निरंतर आवर्तन से स्वयं से परिचित होने की भ्रांति पैदा होती है। इस नाम को बिल्कुल पोंछकर मिटा दें, चित्त से उसे अलग कर दें, वह सत्य नहीं है। वरन मात्र एक काल्पनिक, काम-चलाऊ संज्ञा और संकेत है। उससे आपका कोई भी संबंध नहीं है। अपने भीतर खोजें तो पायेंगे कि वहां आपका कोई भी नाम नहीं है।
और जैसा नाम है वैसा ही रूप है। आपका "रूप" भी आप नहीं है। "रूप" रोज बदलता है, फिर भी हमारी मूर्च्छा नहीं टूटती है।
एक दिन मैं अपने पुराने चित्र देखता था। उनमें कोई भी एकता नहीं है।
वे सब भिन्न-भिन्न हैं। उन्हें हम अलग-अलग व्यक्ति के चित्र कहें तो भी कोई हर्ज नहीं है। वस्तुतः वे अलग-अलग व्यक्तियों के ही हैं। मेरा जो व्यक्ति रूप कल था वह आज नहीं है और जो आज है वह कल नहीं होगा। जन्म के समय जो शिशु रूप होता है उसमें और मृत्यु के समय जो वृद्ध रूप होता है उसमें, क्या कोई भी एकता है, कोई भी समानता है? किसी भी भांति वे एक नहीं हैं, फिर भी किसी आंतरिक मूर्च्छा और सम्मोहन के कारण हम उन्हें एक ही माने जाते हैं।
शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है। एक क्षण को भी वहां ठहराव, रेस्ट नहीं है।
आप जैसा शरीर लेकर यहां आये थे, वही शरीर लेकर वापस नहीं लौटेंगे। बहुत बदलाहट वहां हो गई होगी। शरीर वृद्ध हो गया होगा। उसमें बहुत कुछ मर गया और बहुत कुछ नया हो गया होगा। करोड़ों छोटे-छोटे जीव कोष्ठ आपकी देह को बनाते हैं। वह जीव कोष्ठों के एक विशाल नगर की भांति है। उसमें बहुत परिवर्तन और प्रवाह चलता रहता है। शरीर शास्त्री कहते हैं कि सात वर्षों में पूरी देह के कोष्ठ नये हो जाते हैं। अर्थात सत्तर वर्ष जो देह चलती है, वह दस बार पूरी की पूरी बदल जाती है। इस देह को स्वयं का होना मान लेना बड़ी भूल है। शरीर को स्वयं समझ लेना बड़ा अज्ञान है।
हेराक्लितु ने बहुत सदियों पूर्व कहा था, "आप एक ही नदी में दुबारा नहीं उतर सकते, यू कैन नाट स्टेप ट्वाइस इन द सेम रिह्वर।" उसने ठीक ही कहा था। जगत परिवर्तन है और जैसे नदी प्रतिक्षण बदल रही है, ऐसे ही जगत भी बदल रहा है। शरीर जगत का हिस्सा है और वह नदी की भांति ही बदलता रहता है। एक ही नदी में दुबारा उतरना असंभव है, तो एक ही शरीर से दुबारा मिलन भी संभव नहीं है। मैं आपसे पूछता हूं कि क्या आप एक ही व्यक्ति से दुबारा मिले हैं? यह असंभव है। जो कहते हैं कि जगत में कुछ भी असंभव नहीं है, उनके लिए भी यह

असंभव है। जैसे दो और दो पांच नहीं हो सकते हैं, वैसे ही यह भी संभव नहीं है। नाम-रूप का जो जगत है, वह सतत प्रवाहशील है। वहां कुछ भी स्थिर नहीं है। शरीर उसका ही संयोग और संघात है।
"मैं" जो और जैसा दिखाई पड़ता हूं, वह भी "मैं" नहीं हूं। क्योंकि दिखाई पड़ने वाली सतह तो नदी की धार की भांति बही जा रही है। वह नहीं, उसके भीतर और उसके अतीत ही कहीं मेरा होना हो सकता है। शरीर नहीं, शरीर के पार ही मेरी सत्ता हो सकती है।
शरीर के भीतर चलें। शरीर की सतत प्रवाही सतह के नीचे और पीछे देखें। वहां क्या है? वहां मन है। वह मन भी एक क्षण को भी ठहरा हुआ नहीं है। शरीर के परिवर्तन से भी बहुत ज्यादा तीव्र उसके परिवर्तन की गति है। शरीर तो ठहरा हुआ लगता भी है, उस मन में तो कोई ठहराव प्रतीत भी नहीं होता है। आकाश में बादल एक क्षण को भी बिना ठहरे बदलते रहते हैं, ऐसी ही स्थिति मन के विचारों की है। इन जड़विहीन, रूटलेस बादलों जैसे विचारों को अपना स्वरूप और सत्ता मत समझ लेना। जिस पर इनका आना और जाना है, उसे खोजना होगा। बदलियों के पीछे उस आकाश को खोजना होगा, जिसमें और जिस पर कि उनका खेल चलता है।
विचार परिवर्तन की तीव्रतम शृंखला को उपस्थित करते हैं। कोई मुझे कहता था कि प्रकाश का वेग एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकेंड है और विद्युत का वेग दो लाख अठासी हजार मील प्रति सैकेंड है, जबकि विचार का वेग बाईस लाख, पैंसठ हजार, एक सौ बीस मील प्रति सैकेंड है। यह ठीक ही होगा। विचार से अधिक गति और किसमें हो सकती है? स्वप्नों से अधिक परिवर्तनशील और क्या हो सकता है?
यह स्मरण रखें कि जहां परिवर्तन है वहां आपकी आत्यंतिक सत्ता नहीं है।
यह मन एक क्षण प्रेम से भरता है और दूसरे क्षण घृणा से भर जाता है। एक क्षण शुभ विचार इसमें बहते हैं, दूसरे क्षण अशुभ बहने लगते हैं। जो थोड़ी देर पहले करुणा से भरा था, वह थोड़ी देर बाद क्रूरता में देखा जाता है। झील पर हवाओं के थपेड़ों से उठी लहरों की भांति इसकी दशा है। मेरी मानें और जरा भीतर देखें। क्या वहां किसी फिल्म की भांति विचार नहीं बह रहे हैं? प्रत्येक के भीतर मन का यह छविगृह है और हम सब उसके चित्रों की शृंखला के दर्शक बने हुए हैं। इस छविगृह में जो दिखाई पड़ रहा है, वह नहीं, बल्कि जो देख रहा है, वही मेरा होना है, वही मैं हूं।
मैं न नाम हूं, न रूप हूं, न दृश्य हूं; वरन इन तीनों के पार और अतीत जो अनाम, अरूप द्रष्टा है, वही मेरी सत्ता और आत्मा है। इसे समझना, मनन करना और देखना। क्रमशः उस परम सखा की ओर दृष्टि ले जाने से एक दिन उसका दर्शन होता है और सारा जीवन आमूल परिवर्तित हो जाता है।
शरीर परिवर्तनशील है, चित्त परिवर्तनशील है। इसलिये मैंने कहा कि उनका होना हमारा वास्तविक होना नहीं है। ऐसा मैंने क्यों कहा है? ऐसा इसलिए कहा है कि हमारे भीतर सब बदलता जाता है, फिर भी कुछ है जो कि नहीं बदलता है। परिवर्तन की परिधि के भीतर कुछ सदा अपरिवर्तित और सनातन भी है। उसके ही आधार पर परिवर्तन होते हैं और जैसे फूलों की माला उनके भीतर अनस्यूत धागे पर टिकी होती है, वैसे ही सारे परिवर्तन उस अपरिवर्तित पर टिके होते हैं। उसके बिना तो माला बिखर जायेगी और फूल अलग-अलग हो गिर पड़ेंगे। शरीर और चित्त दोनों ही संग्रह और संयोग हैं। उनका आधार उनके बाहर है। वह आधार ही आत्मा है।
शरीर, मन का सतत प्रवाही संघात किसी अप्रवाही सत्ता के आधार के बिना
हो ही कैसे सकता है? जैसे आकाश में बादल आते और जाते हैं, ऐसे ही उस पर और उसमें शरीर व मन का आना और जाना है। शरीर और मन से स्वयं का तादात्म्य, आइडेंटिटी समझ लेना ही अज्ञान है। यह तादात्म्य ही संसार का मूल है। जो इस तादात्म्य को भेदकर उसे जानने में समर्थ हो जाता है, जो कि शरीर व मन के अतीत है, वह ज्ञान को--आत्म-ज्ञान को उपलब्ध होता है।

हमने देखा कि शरीर और मन निरंतर बहा जा रहा है। लेकिन फिर अतीत की स्मृति किसे होती है? मैं अपने बालपन को स्मरण कर पाता हूं। आज युवा हूं, कल वृद्ध हो जाऊंगा। वृद्ध होकर पाऊंगा कि शरीर और मन की गंगा का बहुत जल बह गया है। लेकिन फिर भी स्मृति का धागा उस सबको सम्हाले हुए है, जो कि बह गया है और अब कहीं भी नहीं है। स्मृति-विषयों, मेमोरि कंटेंट्स के प्रति जो मेरी जागरूकता, अवेअरनेस है वह तो अविच्छिन्न होती है। इससे दीखता है कि हमारे भीतर समस्त विच्छिन्नताओं के बीच प्रतीति की कोई अविच्छिन्न, कांस्टेंट एंड कंटिन्युअस तत्व मौजूद है। यह तत्व परिवर्तनों से घिरा है, पर स्वयं अपरिवर्तित है। यह ठीक भी है। क्योंकि जो समस्त परिवर्तनों को अनुभव करता है, वह स्वयं परिवर्तनशील नहीं हो सकता है। इस अविच्छिन्न चेतना तत्व का नाम ही आत्मा है। जो इस तत्व पर ध्यान करते हैं, वे न केवल इस जन्म के अतीत, वरन अतीत के समस्त जन्मों को भी स्मरण कर पाते हैं। स्मृति-विषय, मेमोरि कंटेंट्स तो मन की ही अचेतन पर्तों पर लिपिबद्ध होते हैं। लेकिन उन्हें देखने वाला, उनके प्रति जागरूक और सचेतन होने वाला जो चेतना-तत्व है, वह उनसे पृथक और उनके पीछे है। इसलिए ही वह उनका स्मरण और उनकी प्रत्यभिज्ञा कर पाता है। स्मृति के स्मरण के रहस्य को समझने, उसका मनन करने से, उसमें झांकने से, मृत्यु के पीछे किसी अमृत और अनित्य के पीछे किसी नित्य तत्व के दर्शन होते हैं।
मनुष्य की सत्ता दोहरी है। उसके भीतर दो सत्तायें मिलती हैं और उनका संगम होता है। मनुष्य परिवर्तन और अपरिवर्तन, अनित्य और नित्य, मृत्यु और अमृत का जोड़ है। शरीर और आत्मा से हम इस द्वैत की ही सूचना देते हैं। मनुष्य की परिधि निरंतर परिवर्तित होती रहती है। और उसका केंद्र सदा अपरिवर्तित बना रहता है।
जो अपने भीतर केवल परिवर्तन को ही जानता है, वह अपनी देह से ही परिचित है। उसका परिचय अपने आवास और अनात्म से ही है। वह स्वयं को नहीं जानता है। और इस मौलिक अज्ञान के कारण उसका जीवन अपने ही हाथों अंधकार से और घने अंधकार में गिरता जाता है। वह स्वयं ही अपने दुख के बीज बोता है और स्वयं ही अपने संताप के कारागृह निर्मित करता है। उसका जीवन अथक आत्म-उत्पीड़न बन जाता है।
अज्ञान में हम जो भी बनाते हैं, वह अंततः स्वयं के लिए नर्क ही सिद्ध होता है। लेकिन यदि हम अपने अपरिवर्तनशील तत्व से भी परिचित हो सकें, तो जीवन की दिशा बदल जाती है और अंधकार की जगह आलोक में हमारे चरण गतिमय हो जाते हैं। उसके प्रकाश में ही हम पहली बार जीवन के अभिप्राय और धर्म से परिचित होते हैं और उसके माध्यम से ही पहली बार सत्य-जीवन में हमारी प्रतिष्ठा होती है। उसे जानते ही बंधन विलीन हो जाते हैं और दुख की प्रेत छायाएं हमारा पीछा छोड़ देती हैं।
उस नित्य को, उस अमृत को कैसे हम जान सकेंगे? किसी के प्रयास से वह नहीं जाना जाता है और न किसी की प्रार्थना से। स्वयं का अथक प्रयास, अपना ही श्रम उस तक ले जाता है। अपने ही चरणों के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है, और अपने ही श्रम के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं है। इसे भलीभांति स्मरण रखना; अन्यथा सत्य को भीख में पा लेने की आकांक्षा से अनेक जीवन-अवसर व्यर्थ ही अपव्यय हो जाते हैं।
सत्य को जानना है, स्वयं को जानना है, तो जो "स्व" नहीं है, "आत्म" नहीं है, उससे तादात्म्य तोड़ना होगा। "अनात्म" से समस्त तादात्म्य तोड़ना होगा। अनात्म से अतादात्म्य में जो प्रगट होता है, वही आत्मा है। परिधि को छोड़ो और केंद्र की ओर चलो। परिवर्तनशील को छोड़ो और अपरिवर्तनशील की ओर चलो। यही साधना की दिशा है।
किस-किस से हमारा तादात्म्य है? "शरीर" से है, "विचार" से है, "भाव" से है--तादात्म्य की इन सभी दीवारों को गिरा दो। उन दीवारों से अपने को मुक्त कर लो जो कि परिवर्तनशील हैं। जो भी परिवर्तनशील है, जानो कि आप वह नहीं हो। इस स्मृति को केंद्रीभूत करो कि जो भी परिवर्तनशील है, वह मैं नहीं हूं। उसे श्वास-प्रश्वास में स्थायी करो। उसे सोते-जागते प्राणों के

प्राण में निनादित होने दो। उस स्मृति के तीर को चेतना में गहरे से गहरा प्रविष्ट करना होता है। उसका अविच्छिन्न हो जाना जरूरी है, तभी लक्ष्य-भेद होता है।
शरीर, विचार, भाव--सभी में यह बोध रहे कि वे मेरी सत्ताएं नहीं हैं। यह स्मरण खोने न पावे। सुबह से सांझ, सांझ से सुबह इस बोध को गहराते ही जाना है। शरीर को जब भी जानें, तो जानें कि यह "शरीर मैं नहीं हूं।" चित्त को जब भी जानें, तो जानें कि यह "चित्त" मैं नहीं हूं, श्वास आती हो, प्रश्वास जाती हो तो जानें कि "यह मैं नहीं हूं"। शरीर, प्राण और चित्त--तीनों "मैं नहीं", इस स्मृति-साधना से क्रमशः तादात्म्य की मोह-निद्रा टूटती है और जागरण आता है। जैसे कोई गहरी नींद में सोया हो और हम उसे बुलाते ही जावें, तो अंततः उसकी नींद टूट ही जाती है। ऐसे ही स्वयं की नींद भी तोड़नी होती है। स्वयं को बुलाकर स्वयं की ही नींद तोड़नी है।
स्मृति-साधना स्वयं को बुलाने की विधि और पद्धति है। उसके अहर्निश प्रयोग से काया का और चित्त का "पर" और पृथक होना अनुभव होता है। उनके और स्वयं के बीच भेद और अंतर स्पष्ट होता है। हम उससे दूर होने लगते हैं, जो कि हम नहीं हैं। और क्रमशः उसमें हमारी प्रतिष्ठा होती है, जो कि हमारा वास्तविक होना है। इस भांति हमारी प्रवासी आत्मा अपने निवास पर आती है। शरणार्थीपन मिटता है और हम स्वयं अपने गृह में आते और उसके मालिक बनते हैं।
परिवर्तनशील परिधि से नाता तोड़ना ही क्रमशः अपरिवर्तनशील केंद्र से नाता जोड़ना बन जाता है। फिर किसी क्षण में, जब साधना का उत्ताप वाष्पीकरण के बिंदु पर पहुंच जाता है, अनायास और अनपेक्षित विस्फोट होता है। और जैसे कोई गहरी नींद से जाग जाता है, ऐसे ही हमारी चेतना शरीर और चित्त होने की मोह-निद्रा से जाग जाती है। अपूर्व आलोक अनुभव होता है और उस आलोक में जो जाना जाता है, वही सार है, वही सत्य है, वही समग्र की आधारभूत सत्ता है। सत्य को ऐसे ही जाना जाता है। विचार से नहीं-- साधना से, विधि से। स्वयं में प्रवेश से उसकी प्राप्ति है और जो शास्त्रों में ही भटकते रहते हैं, वे व्यर्थ ही भटकते हैं। शब्द में नहीं, स्वयं में उसकी उपलब्धि का द्वार है। स्वयं के व्यक्तित्व की परिवर्तनशील परिधि से क्रमशः अपने को मुक्त करने का नाम ध्यान है। और मुक्त हो जाने की चरम अवस्था का नाम समाधि है।
महावीर बारह वर्षों में यही करते थे। बुद्ध भी यही करते थे। सत्य का कोई भी साधक यही करता है। क्रमशः भीतर सरकता है, केंद्रोन्मुख होता है, परिवर्तनशील से तादात्म्य तोड़ता है और स्मरण स्थापित करता है कि "यह मैं नहीं हूं।" उस क्षण तक वह जानता ही चला जाता है कि "यह मैं नहीं हूं", जब तक कि अस्वीकार करने को कुछ उसे शेष ही नहीं रह जाता है। फिर वह स्वयं ही शेष रह जाता है। फिर वही शेष रह जाता है--जो वह है। ज्ञेय कुछ भी नहीं बचता है, मात्र ज्ञाता ही रह जाता है। ज्ञेय के अभाव में उसे ज्ञाता भी क्या कहें? अच्छा हो कि कहें कि सिर्फ ज्ञान ही शेष रह जाता है।
ज्ञेय और ज्ञाता से मुक्त यह शुद्ध ज्ञान ही आत्मा है। इस क्षण सारी सीमायें गिर जाती हैं, काल और देश समाप्त हो जाते हैं। अनंत और असीम में चेतना विराजमान होती है। यही उसका स्वरूप है। इसी की उसे खोज और तलाश है और जब तक इसे पा न लिया जावे तब तक उसे अशांति और असंतोष स्वाभाविक है। जिसे हम बूंद की भांति जानते हैं, वह सागर है। और जब तक हम उसे सागर की भांति ही अनंत और असीम नहीं जानेंगे, तब तक दुख से छुटकारा नहीं है। सीमा ही दुख है। सीमा से ऊपर उठ जाना दुख के अतीत हो जाना है।
एक बार ऐसा हुआ कि एक राजा ने सौ ब्राह्मणों को किसी अवसर पर भोज दिया। भोज के बाद उसने उन ब्राह्मणों से कहा, "मैं ज्ञानियों का एक उपनिवेश बसाना चाहता हूं। राजधानी के बाहर झील के पास जो मेरा रम्य वन है, वहां आप सौ ब्राह्मण जितनी भूमि चाहें, ले लें। जो जितनी भूमि घेरकर उस पर अपनी दीवार बना लेगा, वह भूमि उसकी ही हो जावेगी।"

उन ब्राह्मणों ने अपनी सामर्थ्य भर जमीन घेर ली। वह भूमि बहुत बहुमूल्य थी और वे ब्राह्मण बहुत दरिद्र थे! जिसके पास जो था, सब बेचकर उन्होंने बड़ी-बड़ी भूमि को घेरकर दीवारें बना लीं। दीवार से भूमि को घेर लेना ही तो एकमात्र मूल्य था!
फिर, छह माह बाद वह राजा वहां गया। उसने उन ब्राह्मणों से कहा, "मैं देखता हूं कि आपने जमीन काफी घेरी है, फिर भी बहुत काफी नहीं घेरी। और जमीन घेर लो और यह भी स्मरण रखना कि जिसका घेरा सबसे बड़ा होगा, उसे राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित करने का मेरा संकल्प है!"
यह भी ठीक ही था कि जिसकी समृद्धि का घेरा सबसे बड़ा हो, वही राजगुरु बने। राजा के गुरु होने की मर्यादा के यह अनुकूल ही था। वे ब्राह्मण पागलों की भांति अपने घेरे बड़े करने में लग गये। उनमें बड़ी प्रतियोगिता थी। यही प्रतियोगिता सभी जगह है। सभी अपने घेरे बड़े करने में लगे हैं। सभी की आकांक्षा राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित होने की है! उन ब्राह्मणों ने बड़ी से बड़ी भूमि घेरी।
छह माह बाद पुनः वह राजा उनके बीच गया। उसने उनसे कहा, "ब्राह्मणो, जिसका घेरा सबसे बड़ा हो, वह सूचित करे।" इसके पहले कि कोई उठता, एक दरिद्रतम ब्राह्मण उठा। उसके पास तो वस्त्रों के नाम पर केवल एक लंगोटी थी। सभी हैरान हुए, क्योंकि सभी जानते थे कि उसका घेरा ही सबसे छोटा है। वह तो दीवार भी नहीं बना सका था, घास-फूस की छोटी-सी बाड़ी ही उसने बांधी थी! उतनी ही उसकी सामर्थ्य भी थी। लेकिन उस दरिद्रतम ब्राह्मण ने कहा, "मैं राजगुरु के पद पर अपने को घोषित करता हूं।" राजा चकित हुआ। उसकी दरिद्रता से कौन परिचित नहीं था? और ब्राह्मणों ने समझा कि शायद वह पागल हो गया है! उसने जब दावा किया, तो राजा को उसकी भूमि का निरीक्षण करने जाना पड़ा।
जब राजा और सारे ब्राह्मण वहां गये, तो उन्होंने देखा कि जो घास-फूस का घेरा था, वह भी रात्रि उसने जला दिया है और दीवार के नाम पर केवल राख ही शेष रह गई है। उस ब्राह्मण ने कहा, "राजन! मेरा घेरा सबसे बड़ा है। क्योंकि मेरा कोई घेरा ही नहीं है।" राजा यह सुन, उसके पैरों पर गिर पड़ा। सच ही जिसका कोई घेरा नहीं है, उसने सभी को घेर लिया होता है, और जो सीमाएं तोड़ देता है, वह असीम हो जाता है।
मैं आपकी ओर देखता हूं, तो क्या पाता हूं? पाता हूं कि आप बहुत घेरों में घिरे हैं। वह जो असीम है, अपने ही हाथों सीमाओं में बंधा हुआ है। परमात्मा को आपके भीतर मैं बंदी हुआ देख रहा हूं। सीमाओं को तोड़ो और अपनी परमात्म-शक्ति को मुक्त होने दो। घास-फूस की दीवारों में आग लगा दो और उन्हें राख हो जाने दो। उनकी राख पर ही उसके दर्शन होंगे, जो कि परम शक्ति है और परम आलोक है।
अपने को मिटाकर ही अपने को पाया जाता है। अहं को तोड़कर ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है। आज तक सदा ऐसा ही हुआ है। इसी मूल्य पर--इसी यज्ञ से, इसी द्वार से ही--स्वयं को खोकर ही स्वयं को पाया जाता रहा है। और कोई मार्ग नहीं है। जिसके जितने ज्यादा घेरे हैं, वह उतना ही घिरा और छोटा होता है, वह उतना ही विराट से दूर और अलग हो जाता है। वह अपने ही हाथों क्षुद्र अणु बन जाता है। और जो जितना घेरों को गिरा देता है और उनसे मुक्त हो जाता है, वह उतना ही विराट हो जाता है। अणु से आत्मा होने की राह और विधि यही है। उठो! जागो और सारे घेरों को गिरा दो। वे घेरे ताश के पत्तों के ही घेरे हैं, क्योंकि उनकी सत्ता मिथ्या तादात्म्य से ज्यादा गहरी नहीं है। शरीर, विचार और भाव के इन घेरों को स्मृति की साधना से विच्छिन्न करो। ध्यान की अग्नि में उन्हें जला दो, और फिर देखो कि तुम्हारे भीतर क्या है और कौन है? प्रत्येक के भीतर वह मौजूद है, जो घेरे में है, लेकिन फिर भी अनघिरा है। और प्रत्येक के भीतर उसका आवास है, जो मृत्यु से गुजरता है, लेकिन अमृत है। मिट्टी के दीये में जैसे ज्योतिशिखा होती है, ऐसे मृत्यु के दीये में जीवन की ज्योति है। दुर्भाग्य है उनका जो कि अपने भीतर केवल मिट्टी के दीये को ही जानते हैं, और जीवन की ज्योति से वंचित हैं। पर वे अपने

दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल सकते हैं। क्योंकि वे जानें या न जानें, लेकिन जीवन की, अमृत की ज्योति सतत उनके भीतर भी जल रही है।
धर्म क्या है? इस ज्योति को जानने का विज्ञान धर्म है। इस ज्योति को जानना ही होगा। उसके बिना जीवन अपूर्ण और अधूरा है। और उसे जाने बिना शांति और सांत्वना नहीं मिलेगी। उसे जाने बिना जन्मों-जन्मों की दौड़ें रेत पर खींची हुई रेखाओं की तरह मिट जाती हैं। वे सब निष्फल हैं। आत्मज्ञान ही विश्राम का स्थल है।
तृष्णा की धूप से क्लांत और अज्ञान की यात्रा से थके राही को वहीं छाया और विश्रांति मिलती है। इसलिए इस स्थल को पाना ही होगा। अपनी सारी ऊर्जा को इकट्ठा कर प्रयास करो। और अपने सारे संकल्प को घनीभूत कर सत्य को पाने चलो, तो सफलता सुनिश्चित है, क्योंकि सत्य की दिशा में सम्यक रूप से उठाया गया कोई भी चरण कभी व्यर्थ नहीं जाता है।
प्रभु की अनुकंपा आपके ऊपर हो, प्रभु करे कि आप स्वयं को पा सकें, प्रभु आपको प्रेरणा और प्रकाश दे कि आप अनंत आनंद और अमृत से संयुक्त हो सकें, यही मेरी कामना है। आपकी क्षुद्र क्रियाएं वहां नहीं पहुंचायेंगी। आपकी सस्ती पूजा और अर्चना वहां नहीं पहुंचायेंगे। आपके दो कौड़ी के दान-धर्म वहां नहीं पहुंचायेंगे। आपके खड़े किए हुए क्षण-भंगुर मंदिर, मस्जिद और शिवालय वहां नहीं पहुंचायेंगे। बाहर के जगत में आपका किया हुआ कुछ भी वहां पहुंचाने में समर्थ नहीं है। क्योंकि आपका सब किया हुआ आपके घेरों को ही बनाता और आपकी दीवारों को ही सुदृढ़ करता है। उससे आपकी अहंता मिटती नहीं, और मजबूत होती है। उस सबसे आपको लगता है कि "मैं" कुछ हूं।
दानी को लगता है--"मैं कुछ हूं।" पंडित को लगता है--"मैं कुछ हूं।" त्यागी को लगता है--"मैं कुछ हूं।" साधु को लगता है--"मैं कुछ हूं।" और इस भांति सब किया हुआ अधर्म हो जाता है। अधर्म "मैं" को भरता है, धर्म "मैं" को छीनता है। वह व्यक्ति धर्म की दिशा में है जो निरंतर अपने "मैं" को विलीन होता हुआ पाता है। वह सतत "मैं" से शून्य की तरफ बढ़ता है। वह निरंतर अकिंचन से अकिंचन होता चला जाता है और फिर एक दिन बिल्कुल शून्य ही हो जाता है। और उसे स्मरण भी नहीं रहता है कि वह है। उसका होना हवा-पानी की भांति "मैं- शून्य" हो जाता है। और तभी वह जान पाता है कि वह कौन है?
"मैं" के मिट जाने से आत्मा का जन्म होता है। इसलिये कोई ऐसा न कहे कि "मेरी आत्मा", क्योंकि आत्मा मेरी और तेरी नहीं होती है। जहां न "मैं" होता है, न "तू" होता है, वहां जो होता है, उसका नाम आत्मा है। जब सब "मैं", "तू" के बोध गिर जाते हैं, तभी हम आत्मा से संयुक्त होते हैं। वह आत्मा सबके भीतर है, वह सत्ता सबमें है, किंतु वह किसी की भी नहीं है।
धर्म आत्यंतिक साहस की बात है, क्योंकि उसमें स्वयं को ही तोड़ना और मिटाना होता है। वह "मैं" की मृत्यु से गुजरना है। वह अपने को सीमाओं की सुरक्षा से अलग कर असीम की असुरक्षा में सौंपना है। असीम की असुरक्षा के इस आमंत्रण को ही मैं संन्यास कहता हूं। सीमा की सुरक्षाओं से जो नहीं निकल पाता है, वही गृही है, वही गृहस्थ है। "मैं" की, अस्मिता की सीमाओं को जो तोड़ देता है, वह अपनी बूंद-सत्ता को छोड़ता है और जिसमें इतना साहस है वही--केवल वही सागर-सत्ता को पाता है।
प्रभु आपको इतना साहस दे कि बूंद के सागर होने के इस आरोहण में आप सफल
हो सकें।
मेरी इन बातों को इतने मौन से और इतनी प्रीति से आपने सुना है, उसके लिये मैं बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। बहुत प्रेम मैं आपके प्रति अनुभव कर रहा हूं। मेरा प्रेमपूर्ण आलिंगन स्वीकार करें। मेरी बाहें तो छोटी हैं, पर हृदय इतना बड़ा है कि सब उसमें समा जावें। मेरी बाहों को नहीं, मेरे प्रेम को देखें और उसे अनुभव करें। प्रेम के अनुभव में ही प्रभु है।

पथ की खोज
छठवां प्रवचन

सूर्य की ओर उड़ान

अभी-अभी आपकी तरफ आने को घर से निकला। सूर्य का किरण-जाल चारों ओर फैल गया है और वृक्ष पक्षियों के गीतों से गूंज रहे हैं। मैं सुबह के इस संगीत में तल्लीन था कि अनायास ही मार्ग के किनारे खड़े सूर्यमुखी के फूलों पर दृष्टि गई। सूर्य की ओर मुंह किए हुए, वे बड़े गर्वोन्नत खड़े थे। उनकी शान देखने ही जैसी थी! उनके आनंद को मैंने अनुभव किया और उनकी अभीप्सा को भी पहचाना। मैं उनके साथ एक हो गया और पाया कि वे तो पृथ्वी के आकाश को पाने के स्वप्न में हैं। अंधकार को छोड़ कर वे आलोक की यात्रा पर निकले हैं। मैं उनके साहस का गुणगान करता-करता ही यहां उपस्थित हुआ हूं और उनकी सफलता के लिए हजार-हजार प्रार्थनाएं मेरे हृदय में घनीभूत हो गई हैं।
और अब मैं सोच रहा हूं कि क्या मनुष्य भी ऐसे ही सूर्य को नहीं पाना चाहता है? क्या उसके प्राण भी आलोक के मूल-स्रोत से एक होने को नहीं छटपटाते हैं? क्या वह भी एक बीज नहीं, जो पृथ्वी के अंधकार भरे गर्भ को छोड़ विराट आकाश को पाने के लिए लालायित है?
बीज वृक्ष होना चाहता है। अणु विराट होना चाहता है। विकास ही जीवन है।
और जब बीज वृक्ष नहीं हो पाता है, तो स्वाभाविक ही है कि उसके प्राणों में रुदन हो और उसकी आत्मा आकाश न पाने की पीड़ा अनुभव करे। क्या मनुष्य का दुख भी ऐसा ही दुख नहीं है?
मनुष्य का मूल संताप यही है कि वह सूर्य की ओर अपना मुंह नहीं उठा पाता है। और उसकी आत्मा अपने पंखों को खोल अनंत आकाश के लिए उड़ान नहीं भर पाती है। यही है उसकी पीड़ा, चिंता और रुग्णता। यही है उसकी अशांति।
आकाश की स्वतंत्रता को उपलब्ध न कर पाना ही संसार है, बंधन है।
परंतु इसी संताप में सत्य की यात्रा का शुभारंभ छुपा हुआ है। जीवन जैसा है, उससे संतुष्ट हो जाना, शुभ नहीं है। जो उससे संतुष्ट हो जाता है, वह विकसित ही नहीं होता। विकास तो है असंतोष में। कली, कली होने से ही संतुष्ट हो, तो फिर फूल का जन्म कैसे होगा?
गहरे असंतोष और उत्कट अतृप्ति में ही प्राण सजग होते हैं और उनमें प्रसुप्त ऊर्जा जागती है और आत्म-सृजन में संलग्न होती है।
इसलिए, स्मरण रहे कि असंतोष की अनुभूति दिव्य अनुभूति है। और जीवन को उसके केंद्र तक ले जाने वाली आधारभूत शक्ति भी वही है।
परिधि के जीवन से संतुष्ट हो जाने को ही मैं अधर्म कहता हूं। इसके अतिरिक्त कोई पाप नहीं है।
परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व, जो भी जीवन-पथ पर मनुष्य को रोकने में सर्वाधिक समर्थ है-वह है, आलस्य। और यही आलस्य संतोष के रूप में प्रकट होता है।
पुरुषार्थ तो जन्मजात असंतोष है।
और जहां पूर्ण असंतोष है, वहीं पूर्ण पुरुषार्थ है।
जीवन के प्रति पूर्ण असंतोष को जो अनुभव करता है, वही अपनी यात्रा को परमात्मा तक ले जाने में समर्थ होता है।
बीज की यात्रा वृक्ष तक है। मनुष्य की यात्रा परमात्मा तक है।
मैं आपमें भी इस प्यास को देख रहा हूं। आपकी मौन आंखों में वह सब मेरे समक्ष स्पष्ट हो उठा है, जो कि आप में अंकुरित होना चाहता है। आपकी प्यास ही आपके हृदयों को पारदर्शी बना रही है। और जिस दिन से मैंने स्वयं में देखा है, उस दिन से ही सबमें देखने की आंख भी उपलब्ध हो गई है। भीतर "स्व" और "पर" में कोई भेद नहीं है।
वृत्त की परिधि पर बिंदु-बिंदु में कितनी दूरी हो, किंतु केंद्र पर तो कोई भी दूरी नहीं रह जाती है। और इससे ही ज्ञान अंततः प्रेम बन जाता है, और प्रेम ज्ञान बन जाता है। ज्ञान जहां नहीं है, वहां प्रेम भी नहीं है।

83

और जहां प्रेम नहीं है, वहीं दुख है।
प्रेम का अभाव दुख है। उस अभाव में ही प्राण पीड़ा से भर जाते हैं और जीवन अस्वस्थ हो जाता है। प्रेम स्वास्थ्य है, क्योंकि प्रेम स्वयं की उपलब्धि है।
लेकिन, वह ज्ञान कहां है, जो कि प्रेम बन जाता है? ज्ञान है वहां, जहां
कि सूर्य की ओर आंखें हैं।
सत्य की ओर आंखें करते ही जीवन आलोक से भर जाता है।
किंतु अधिक लोग जीवन भर सत्य की ओर पीठ किए ही खड़े रहते हैं! और सूर्य
की ओर जिसकी पीठ है, उसकी स्वयं की छाया ही उसके लिए अंधकार बन जाती है।
हम स्वयं ही हैं अपने अंधकार या आलोक।
किस दिशा में हमारी आंखें हैं, इस पर ही सब कुछ निर्भर है। हम चाहें तो सूर्यमुखी होने का सौभाग्य पा भी सकते हैं और चाहें तो खो भी सकते हैं। मैं अपने ही अनुभव से यह कहता हूं--अंधकार में था, तो जहां तक दिखाई देता था, अंधकार ही अंधकार दिखाई देता था। उसे मिटाने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हुआ। बहुत उससे लड़ा, लेकिन असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आया।
लेकिन असफलता और सतत पराजय से मैं निराश नहीं हुआ, वरना यही जाना कि शायद मेरी दिशा ही भ्रांत है। और पाया कि दिशा गलत थी। अंधकार था, क्योंकि मैं ही प्रकाश से विमुख खड़ा था। वह अंधकार मेरी छाया थी। प्रकाश की विमुखता से ही उसका जन्म हुआ था। अपने आपमें उसकी कोई सत्ता न थी। और उसे मिटाने के लिए चाहे मैं कुछ भी क्यों न करता, वह सब निष्फल हो जाता। क्योंकि जो नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता है। असत्तावान से लड़ने से अधिक अज्ञानपूर्ण और क्या हो सकता है?
लेकिन हम सभी छायाओं से लड़ते हैं! और यही कारण है कि हमारा जीवन एक अंधेरी छाया होकर निःसत्व हो जाता है।
जीवन की उपलब्धि सदा ही विधायक की दिशा में है।
अभाव से संघर्ष जीवन में नहीं, मृत्यु में ही ले जाता है।
उसे पाना है, "जो है" और उसे छोड़ना है, "जो नहीं है।"
जैसे ही यह तथ्य मुझे दिखा, मैंने असत्य की और अंधकार की चिंता छोड़ दी
और आंखें उस ओर उठाईं, जो कि सत्य है, आलोक है। और मुड़ते ही जाना कि समस्त अंधकार मात्र इस बात की सूचना थी कि मेरी पीठ सूर्य की ओर थी, और मेरी आंखें सूर्य की ओर नहीं थीं!
मैं आपसे भी पूछना चाहता हूं--क्या आप अंधकार में हैं? क्या आपके चारों ओर भी अमावस की रात्रि घिरी है? यह एक इंगित है, एक सूचना है। आप जिस दिशा में खोज रहे हैं, उस दिशा में सूर्य नहीं है। और इस सत्य को जानते ही एक क्रांति हो जाती है। क्योंकि तब अंधकार या आलोक हमारी जीवन-दृष्टि के प्रतीक मात्र रह जाते हैं।
अंधकार को नष्ट नहीं करना है। वह तो जीवन दिशा के परिवर्तन से स्वतः
ही विलीन हो जाता है। और न ही आलोक को कहीं से लाना ही है। वह तो नित्य ही उपस्थित है। हमें तो मात्र उसकी ओर आंख उठानी हैं। और उसके लिए अपने हृदय के द्वार खोलने हैं।
वह जो कि सदा ही है--हृदय के द्वार बंद होने मात्र से खो जाता है और हृदय के द्वार खुलने से ही पुनः उपलब्ध हो जाता है।
सत्य को कहीं से पाना नहीं, बस स्वयं को ही खोजना है।
सूर्य को कहीं खोजना नहीं, बस अपनी आंखें ही मोड़नी और खोलनी हैं।
जगत में दो ही भांति के व्यक्ति हैं--सूर्योन्मुख और सूर्य से विमुख।
पौधे जैसे सूर्य से विमुख हों, तो जीवन को खो देते हैं। ऐसे ही वे व्यक्ति भी जीवन के रस और अर्थ से वंचित हो जाते हैं, जो सूर्य की विरुद्ध दिशा में यात्रा करते हैं और क्रमशः गहन से गहन अंधकार पथों पर भटक जाते हैं। स्वभावतः ही उनका जीवन दुख, पीड़ा और आत्मिक दारिद्रय से भर जाता है। उनके हृदय दीन-हीन हो जाते हैं और अंधी कामनाएं उन्हें चिर-भिखारी बना देती हैं। उनके पास सब कुछ भी हो, तो भी उनके पास कुछ भी नहीं होता। वे

स्वयं ही अपने पास नहीं रह जाते हैं। सब पाने के ख्याल में स्वयं को ही खो देते हैं। और स्वयं को गंवा देने से बड़ा न कोई संकट है, न कोई विपदा है। प्रकाश के विरोध में जीने से आंखें अंधी हो जाती हैं और जड़ें सड़ जाती हैं। प्राण पाषाण बन जाते हैं और प्रेम के स्रोत सूख जाते हैं। ऐसी आत्माएं, अंधकार के पक्षियों की भांति आलोक से भयभीत रहने लगती हैं। और उनका जीवन एक लंबा दुख स्वप्न हो जाता है। रात्रि की विषाक्त और मूर्च्छित निद्रा को ही वे जीवन मान लेती हैं! और दिवस का जाग्रत जीवन उन्हें विस्मरण ही हो जाता है! ऐसा जीना नाम-मात्र को ही जीना है। यह जीना झूठा ही है। वस्तुतः सूर्य से विमुख होकर कोई भी जीवन नहीं है।
धर्म का आमंत्रण सूर्योन्मुख होने का आह्वान है, सूर्य की ओर आंखों
को उठाना है।
लेकिन सूर्य कहां है? इस पर हम विचार करेंगे। उन कारणों पर भी विचार करेंगे, जो कि सत्य के आलोक तक पहुंचने में बाधा हैं। और जिनके कारण चित्त मुक्त होकर "सूर्य की ओर उड़ान" नहीं भर पाता।
सूर्य स्वयं के भीतर है।
बाहर होना सूर्य के विमुख होना है। बाहर की यात्रा अंधकार की यात्रा है।
ज्ञान का स्रोत स्वयं में है। चैतन्य का केंद्र स्वयं में है। स्वयं
की आत्यंतिक गहराई में ही वह है, जिसे पाने से और सब पाने की वासनाओं से मुक्ति हो जाती है। सत्य को जानने का द्वार स्वयं को उसकी पूर्णता में जान लेना ही है।
किंतु सत्य के संबंध में तो बहुत मत हैं, बहुत सिद्धांत हैं, बहुत शास्त्र हैं! और इनका जाल ही व्यक्ति को उलझा लेता है! और उसके चित्त को ऐसा घेर लेता है कि वह सत्य के साक्षात में असमर्थ ही हो जाता है।
सत्य के संबंध में जो सिद्धांत हैं, वे स्वयं सत्य नहीं हैं।
सत्य को दिए गए जो शब्द हैं, वे स्वयं सत्य नहीं हैं।
और सत्य के संबंध में जो शास्त्र हैं, वे सत्य के नहीं, वरन सत्य के संबंध में मतों के संग्रह है।
सत्य यह है कि सत्य को शब्द से कहा ही नहीं जा सकता। सत्य है जीवंत अनुभूति, शब्द हैं मृत अभिव्यक्तियां। मृत, जीवित को प्रकट करने में समर्थ नहीं है।
इसलिए सत्य की खोज में सबसे पहले समस्त मतों से मुक्त होना आवश्यक है। मत सत्य नहीं, सत्य का आभास है।
किसी भी मत को मानना चित्त को पक्ष में बांधना है। जहां पक्ष है, वहां पक्ष का आग्रह है। जब कि सत्य का आग्रही पक्ष का आग्रही कैसे हो सकता है? पक्षपातग्रस्त चित्त अपने पक्ष को सत्य के भी ऊपर रखता है! सत्य को वह अपने पक्ष के अनुकूल ही चाहता है! और यह बात ही जड़तापूर्ण है।
सत्य को हमारे अनुकूल नहीं, वरन हमें सत्य के अनुकूल होना पड़ता है।
किंतु मताग्रही की ऐसी तैयारी नहीं होती। इसलिए वह अपनी धारणाओं को
ही सत्य सिद्ध करने की चेष्टा में नष्ट हो जाता है।
सत्य तो सिद्ध है ही। उसे क्या सिद्ध करना है! जो स्वयं को समस्त मतों, वाद-विवादों और पक्षों से शून्य करता है, वह निष्पक्ष होकर सत्य के आगमन के लिए स्वयं में मार्ग दे देता है।
मनुष्य ने अपनी लंबी यात्रा में मतों और पक्षों, संप्रदायों और पंथों
का बहुत सा कूड़ा-कर्कट इकट्ठा कर लिया है। मनुष्य तो पैदा होते हैं, लेकिन फिर मरने का नाम नहीं लेते! उनकी लाशें सुरक्षित रख ली जाती हैं और उनकी पूजा जारी रहती है! इस भांति हम अतीत से मुक्त नहीं हो पाते हैं।
और प्रत्येक पीढ़ी नई पीढ़ी को पुरानी परंपराओं की जंजीर वंशाधिकार में भेंट कर जाती है!
प्रत्येक नवागंतुक पैदा तो स्वतंत्र होता है, लेकिन पैदा होते ही संप्रदायों में परतंत्र हो जाता है। इसके पूर्व कि उसमें स्वयं की विचारणा जागे और विवेक पैदा हो, उसके चित्त को सत्य के संबंध में किन्हीं

धारणाओं से भर दिया जाता है! विवेक जागरण के पूर्व ही ईश्वर, और आत्मा, और जीवन के संबंध में कुछ विश्वास उसमें संस्कारित कर दिए जाते हैं! यह प्रचार बहुत सूक्ष्म है। इसके ही कारण पृथ्वी पर ईसाई हैं, हिंदू हैं, जैन हैं, बौद्ध हैं, मुसलमान हैं, लेकिन मनुष्य नहीं हैं!
यह दुर्भाग्य बहुत गहरा है और यह दुर्घटना बहुत संघातक है। इसके कारण
ही न तो हम ठीक से मनुष्य होने में समर्थ हो पाते हैं और न ही हमें मनुष्यात्मा में निहित सत्य का साक्षात हो पाता है! मनुष्यात्मा को जानने से पहले कम से कम मनुष्य होना तो अनिवार्य है।
सत्य की खोज सांप्रदायिक चित्त को लेकर असंभव है। उसके लिए तो पूर्णतः असांप्रदायिक चित्त की भूमिका आवश्यक है। सांप्रदायिक चित्त तो दासता में बंधा होता है। शरीर को जो लौह-शृंखलाएं बांध सकती हैं, वे इतनी सुदृढ़ नहीं होतीं, जितनी कि विचारों कीशृंखलाएं जो कि मन को बांध लेती हैं। मन की गुलामी की असल जड़ इस तथ्य में निहित होती है कि हमें उस गुलामी का बोध ही नहीं रह जाता है! वह हमारे अवचेतन में ही प्रविष्ट हो जाती है और हम उसके आदी और अभ्यस्त हो जाते हैं! जैसे खून में कोई जहर मिला दिया गया हो, ऐसे ही परंपरागत संस्कार हमारे चित्त को कैद कर लेते हैं!
लेकिन बोध के अभाव में ही जिस बंधन की शक्ति है, वह बोध के आगमन के साथ
ही स्वतः क्षीण होने लगती है। जैसे-जैसे हम अपनी मानसिक दासता को पहचानते और परिचित होते हैं, वैसे-वैसे ही उसकी पकड़ हमारे ऊपर ढीली होने लगती है। लेकिन यदि इस दासता को ही हम स्वतंत्रता समझते हैं और संप्रदायों को
ही सत्य-तब तो उनसे मुक्ति का कोई उपाय ही नहीं रह जाता है।
धर्म के नाम पर प्रचलित सभी संप्रदाय, संगठन और चर्च स्वयं के ही एक मात्र सत्य होने का दावा व्यर्थ ही नहीं करते हैं। इस दावे और प्रचार में ही तो उनके प्राण छिपे हुए हैं! इसके आधार पर ही तो वे जीते हैं और शोषण करते हैं! यह दावा ही मनुष्य के ऊपर उनकी प्रभुता का मूल आधार है। इसलिए ही इस दावे को किसी भी मूल्य पर नहीं टूटने देना चाहते हैं। और इसे परिपुष्ट करने के लिए सभी भांति के उपाय करते हैं! इसके ही कारण उन सभी ने अपने-अपने ग्रंथों को ईश्वरीय कहा है! इन शास्त्रों की जकड़ मनुष्य पर ढीली न होने पावे, इसके लिए इनसे अधिक सुदृढ़ और कौन सी भित्ति हो सकती है?
प्रभुता और अधिकार की आकांक्षा ने मनुष्य को परतंत्र रखने की बहुत सी तरकीबें ईजाद की हैं। इन तरकीबों और प्रचार से जो अपने को सर्वाशतः मुक्त नहीं करता, वह सत्य को जानने की आशा भी नहीं कर सकता है।
धर्म को पाने के लिए धर्मों से मुक्त होना होता है।
धर्म तो बहुत हैं, लेकिन उन सभी को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। वे
दो वर्ग हैं--आस्तिक और नास्तिक। सत्य के संबंध में जहां भी किसी भांति की धारणा को मानने का आग्रह है, वहीं पंथ है और पांथिक दृष्टि है। जब कि सत्य को मानने का प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न तो उसे जानने का है।
सत्य का विश्वास नहीं करना है। विवेक को जगाना और सत्य को जानना है। विश्वास तो अंधापन है। फिर वह विश्वास चाहे किसी का भी क्यों न हो।
अविश्वास भी अंधापन है। आंखें तो मात्र विवेक से ही खुलती हैं।
मैं न तो आस्तिकता में मार्ग देखता हूं, न नास्तिकता में। वे दोनों तो
एक ही अंधेपन के पेंडुलम की दो स्थितियां हैं। वे दोनों एक दूसरे की प्रतिक्रियाएं हैं। उन दोनों में से किसी की भी धारणा को पकड़ना घातक है। वस्तुतः तो धारणा मात्र को ही पकड़ना घातक है। किसी भी धारणा को स्वीकार या अस्वीकार करते ही चित्त बंध जाता है, सीमित हो जाता है और अपनी स्वतंत्रता खो देता है।
इसलिए न तो कुछ स्वीकार करना है और न ही अस्वीकार करना है, वरन स्वीकार और अस्वीकार दोनों को ही छोड़ देना है। चित्त संयम के इस बिंदु पर ही स्वतंत्रता का आविर्भाव होता है। और स्वतंत्रता सत्य तक ले जाती है।
मनुष्यता सत्य के संबंध में की गई धारणाओं के कारण खंडित हो गई है।
लेकिन सत्य सर्व, एक कर देता है।
धारणाएं तोड़ती हैं, सत्य जोड़ता है।

मनुष्य और मनुष्य के बीच संप्रदायों की दीवारों के अतिरिक्त और कौन
सी दीवारें हैं? और जितना अहित इन दीवारों ने किया है और किसी दूसरी चीज ने किया है? लेकिन निश्चय ही आप भी किसी न किसी पंथ, किसी न किसी धर्म, किसी न किसी संप्रदाय में खड़े होंगे! आप भी किसी मंदिर, किसी शिवालय या किसी चर्च के अनुयायी होंगे। किसी शास्त्र या आगम पर आपका भी विश्वास होगा। किसी विश्वास के घेरे में आप भी आबद्ध होंगे। और फिर भी आप सत्य को पाना चाहते हैं! क्या इन दोनों तथ्यों में स्पष्ट ही विरोधाभास नहीं है? क्या किसी संप्रदाय में होना और सत्य की आकांक्षा करना, विष को ही अमृत समझना नहीं है?
स्मरण रहे कि इस पृथ्वी पर सभी कुछ संभव है, लेकिन सांप्रदायिक मन सत्य को पा ले, यह संभव नहीं है।
मैं एक गांव में गया था। कोई वृद्ध वहां मुझसे बोले, मैं हिंदू हूं! मैंने उनसे पूछा कि यह हिंदू या मुसलमान होना क्या है? क्या ये सब बातें हमें दूसरों के द्वारा ही नहीं सिखा दी जाती हैं? क्या कोई व्यक्ति हिंदू या मुसलमान पैदा होता है?
समाज जो धारणाएं देता है, सदा उनमें ही बंधे रहना प्रौढ़ता का लक्षण नहीं है।
धर्म का संबंध सांयोगिक घटनाओं से नहीं है। वह तो उस सनातन स्वरूप से संबंधित है, जो कि सबमें है। और जिसकी न कोई जाति है, न कोई देश है, और न कोई रंग और लिंग है।
मित्र, जो व्यक्ति स्वयं को किसी घेरे में बांध लेता है, वह उस तक कैसे पहुंचेगा, जिसका कि कोई घेरा नहीं है? और जो व्यक्ति किसी धारणा को पकड़ लेता है, वह उसे कैसे जानेगा, जिसकी कि कोई भी आत्मा संभव नहीं है?
हमें जो ज्ञात है, उस पर रुके रहने से अज्ञात नहीं जाना जा सकता है। सागर की अनंत यात्रा पर जिसने जाना चाहा है, उसे किसी किनारे से अपने को बांध रखने का कोई उपाय नहीं है।
क्या मैं पूछ सकता हूं कि किनारे पर बने रहना, और सागर में जाना भी- दोनों एक साथ कैसे संभव हो सकते हैं?
अज्ञात सागर की खोज के लिए ज्ञात तट तो छोड़ने ही होंगे। उनका मोह जिसे है, वह अपनी नौका को यात्रा के लिए कभी खोल ही नहीं सकेगा। तट ही उसकी कब्र बनेंगे और सागर की यात्रा केवल स्वप्न ही रह जाएगी। बहुत लोग ऐसे ही स्वप्न देखते-देखते ही मर जाते हैं, क्योंकि अज्ञात की यात्रा का साहस जुटाना उन्हें संभव नहीं हो पाता है।
सागर में चलना है, तो तट छोड़ो। और सागर में गहरे चलना है तो सतह छोड़ो। सतह पर लहरें ही लहरें हैं, मोती तो गहरे में हैं। सत्य पाना है तो पक्ष छोड़ो, क्योंकि निष्पक्ष हुए बिना कोई भी सत्य के पक्ष में नहीं हो सकता है।
मनुष्य की सत्य की खोज में, उसकी जिज्ञासा में, सबसे बड़ी बाधाएं, वे शब्द और शास्त्र हैं, जो कि उसने सीख रखें हैं और जिन्हें सत्य मानने का वह आदी हो गया है! सीखे हुए विचार और विचारधाराएं स्वयं के विचार के जन्म में अवरोध बन जाते हैं। उनमें दब कर स्वयं की विचार करने की शक्ति धीरे-धीरे मृतप्राय हो जाती है। उसके उपयोग का अवसर ही नहीं आ पाता। उधार ज्ञान ही जब काम दे देता हो, तो स्वज्ञान की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?
मैं यदि आपसे पूछूं कि ईश्वर है? तो आप जो भी उत्तर देंगे, क्या वह सीखा हुआ ही नहीं होगा? और तब क्या वह उत्तर भी असत्य ही नहीं होगा? जीवन के संबंध में सीखा हुआ उत्तर सत्य कैसे हो सकता है?
जीवन में जो भी सीखने योग्य है, वह किसी से भी नहीं सीखा जा सकता है। उसे तो स्वयं ही जानना होता है। फिर चाहे वह प्रेम हो या कि प्रार्थना हो, सत्य हो या कि सौंदर्य हो! लेकिन हमने तो ईश्वर को भी सीख रखा है! इससे ज्यादा पागलपन की बात क्या कोई दूसरी भी हो सकती है? किंतु इन सीखे हुए थोथे उत्तरों पर ही हम जीवन को निर्मित करते हैं! और तब यदि एक दिन हवा का

जरा सा झोंका ही हमारे ज्ञान के सारे भवन को भूमिसात कर देता हो, तो क्या कोई आश्चर्य है?
जो ईश्वर को जानना और पाना चाहते हैं, उन्हें दूसरों द्वारा सिखाए गए ईश्वर को भूलना पड़ता है।
वह सत्य, सत्य नहीं है, जो कि स्वयं मेरे ही हृदय ने जाना और जीया नहीं है। और न ही वह प्रेम, प्रेम है, जो कि मेरे ही हृदय की पीड़ा से आविर्भूत न हुआ हो। और न ही वह प्रार्थना, प्रार्थना है, जिसमें कि मेरे ही प्राण स्पंदित न हो रहे हों। जब मैं स्वयं ही आमूल परिवर्तित हो जाता हूं, तभी वह द्वार मेरे सामने आता है, जो कि परमात्मा के मंदिर का है। स्वयं की सत्ता के अतिरिक्त सत्य का कोई और मार्ग नहीं है।
इसलिए सीखे हुए ज्ञान को भूलना पड़ता है, ताकि उसका अनावरण हो सके, जो
कि स्वयं में ही छिपा है और जिसे सीखने की कोई भी जरूरत नहीं है।
स्वयं में जो अनसीखा है, वही स्वरूप है। और स्वरूप वही है, जो कि बाहर
से नहीं लाया गया है, और सदा से स्वयं में ही है, स्वयं ही है।
हम जो भी सीख लेते हैं, उसे ही खोजने लगते हैं! और ऐसी खोज प्रारंभ से
ही भ्रांत हो जाती है। क्योंकि ऐसी खोज अनावरण नहीं, बल्कि आरोपण बन जाती है। सत्य पर हम अपनी सीखी हुई धारणा का आरोपण करने लगते हैं। हम सत्य पर स्वयं को ही थोप देते हैं। और तब जो अनुभव होते हैं, वे सत्य के नहीं, हमारी ही धारणाओं के, हमारी ही कल्पनाओं के होते हैं।
राम, कृष्ण, क्राइस्ट, बुद्ध या महावीर के अनुभव कठिन नहीं हैं। उन्हें साकार देख लेना भी कठिन नहीं है। लेकिन वह सब हमारे चित्त की धारणाओं और आत्म-सम्मोहन का खेल है। सत्य से उन अनुभूतियों का दूर का भी संबंध न है, न हो सकता है।
सत्य के निकट तो केवल वे ही जा सकते हैं, जिनके चित्त सब भांति की धारणाओं के वस्त्रों को त्याग कर नग्न हो चुके हैं और सब भांति की आत्म-सम्मोहक वृत्तियों को जिन्होंने तिलांजलि दे दी है।
चित्त के किसी भी कोने में पड़ी हुई कोई भी धारणा सत्यानुभव के लिए बाधा बन जाती है। उसका प्रक्षेपण, प्रोजेक्शन हो सकता है। वह रूप धर सकती है और सत्य का भ्रम पैदा कर सकती है। यह अनुभव सुखद भी हो सकता है। लेकिन, सुखद होने से ही कोई अनुभव सत्य नहीं हो जाता।
वस्तुतः तो दुख और सुख की अनुभूतियां मन की ही अनुभूतियां हैं।
सत्य की अनुभूति न तो सुख की अनुभूति है, न दुख की, वह तो दोनों के ही पार है।
हम जिन धारणाओं को स्वीकार कर लेते हैं, वे क्रमशः अचेतन हो, चित्त के गहरे और अंधेरे तलों में प्रविष्ट हो जाती हैं। उनके होने का धीरे-धीरे हमें स्वयं ही ज्ञान नहीं रह जाता। किसी भी जाति की धारणाएं उस जाति के व्यक्तियों के अचेतन की सहज ही निवासिनी बन जाती हैं। इनसे मुक्त होना कठिन है। लेकिन मुक्त हुए बिना, अन्य कोई विकल्प भी नहीं।
चित्त यदि पूर्व से ही किन्हीं धारणाओं, रूपों, आवृत्तियों और मूर्तियों से भरा है, तो वह सत्य को जानने को खाली ही नहीं है। उसमें अवकाश ही नहीं है कि सत्य प्रवेश पा सके। और वह स्वतंत्र भी नहीं है कि अपने स्वप्नों को छोड़ सके। उसमें स्वप्न बनते और बिगड़ते ही रहेंगे। और जिस स्वप्न के वह स्वयं ही पक्ष में हो और जिसे वह स्वयं ही सत्य सिद्ध करना चाहता हो, वह स्वप्न सत्य का अभिनय भी कर सकता है।
किसी भी स्वप्न में यदि हम अपनी समग्र शक्ति से सहयोग दें, तो तीव्रता
के किन्हीं क्षणों में वह सत्य की भांति प्रतीत हो सकता है। स्वप्न सत्य होने का आनंद दे सकते हैं! और बहुत से लोग इस तरह के अभ्यास को ही सत्य की साधना समझ लेते हैं!
मित्र, सत्य की और स्वप्न की साधना में बहुत भेद है। स्वप्न की साधना में श्रद्धा, विश्वास, आरोपण और आत्म-सम्मोहन चाहिए और सत्य की साधना में उन सबका त्याग।

सब भांति शून्य आंखें ही सत्य को जान सकती हैं। जो आंखें पूर्व से ही किन्हीं चित्रों से भरी हैं, वे अपने ही चित्रों के प्रक्षेपण को जानेंगी, उसको नहीं जो कि है। आंख तो चाहिए दर्पण जैसी--शून्य, निर्दोष और निष्पक्ष।
निराग्रह होना, निर्दोष होना है। शून्य होना, स्वच्छ होना है।
मैंने एक छोटी सी कहानी सुनी है। एक फकीर दिन भर के उपवास और उपासना
के बाद रात्रि को सोया ही था कि उसने एक स्वप्न देखा। उसने देखा कि वह स्वर्ग में पहुंच गया है। कोई बड़ा समारोह वहां मनाया जा रहा है। सारे रास्ते सजे हैं। बहुत दीप जले हैं। हवाएं सुवासित हैं। मार्गों पर बहुत चहल-पहल है। उसने किसी से इस सबका कारण पूछा तो ज्ञात हुआ कि आज भगवान का जन्म-दिन है और जल्दी ही उनकी शोभा-यात्रा निकलने वाली है! वह भगवान के दर्शन की कल्पना से ही आनंदित हो उठा और राजपथ के किनारे इकट्ठी होती भीड़ में बड़ी प्रतीक्षा से खड़ा हो गया।
फिर शोभायात्रा शुरू हुई। लाखों लोग हैं, बीच रथ पर अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति बैठा हुआ है! उसने सोचा शायद यही भगवान हैं। और लोगों से पूछा, किंतु ज्ञात हुआ कि ये हैं जीसस क्राइस्ट और साथ में उनके अनुयायी हैं! उनके निकल जाने के बाद वैसा ही दूसरा रथ भी आया। वे थे हजरत मोहम्मद! उनके साथ भी लाखों लोग हैं! और... फिर राम का रथ था, कृष्ण का रथ था, बुद्ध, महावीर और जरथुस्त्र के रथ थे! और बहुत से लोग थे और बहुत से रथ थे! वह देखते-देखते थक गया, लेकिन भगवान का कोई भी पता न चला!
फिर तो मार्ग भी निर्जन होने लगे। भीड़ छंटने लगी। शायद शोभायात्रा समाप्त हो गई थी। तभी एक बूढ़े से घोड़े पर एक वृद्ध व्यक्ति बैठा हुआ आया। उसके साथ न तो मशालें थीं, न ही कोई व्यक्ति था! अंत में इस दयनीय वृद्ध को देख उसे हंसी आने लगी। उसने किसी से पूछा, ये महानुभाव कौन हैं? उत्तर मिला, ये स्वयं परमात्मा हैं!
इस सत्य के आघात से उसकी नींद टूट गई और उसने स्वयं को कांपते हुए पाया! दिन भर जो प्रार्थनाएं उसने की थीं, फिर उन्हें वह नहीं कर सका। भगवान के नाम से जो धारणाएं, उसने बना रखी थीं, वे खंडित हो गईं।
भगवान के साथ होने के लिए और सबका साथ छोड़ देना आवश्यक है। जो किसी और
के साथ है, वह इस कारण ही भगवान के साथ नहीं रह पाता है। उस रात्रि उसकी साधारण नींद ही नहीं टूटी, वरन वह नींद भी टूट गई, जो धर्म के नामों पर प्रचलित अफीम को लेने से आ जाती है।
किंतु कितने कम लोग हैं, जो कि अपनी नींद के नशे को तोड़ने को राजी होंगे? उस फकीर ने जो स्वप्न में देखा था, क्या वही आपको सारी पृथ्वी पर वस्तुतः दिखाई नहीं पड़ता है?
लोग क्राइस्ट के साथ हैं, कृष्ण के साथ हैं, बुद्ध के साथ हैं! लेकिन परमात्मा के साथ कौन है?
वस्तुतः परमात्मा के साथ जिसे होना है, उसे अपने और परमात्मा के बीच में किसी भी मध्यस्थ को लेने की कोई भी जरूरत नहीं है। मध्यस्थ की धारणा हमारी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। फिर वह कल्पना ही बाधा बन जाती है।
यह स्मरण रहे कि जो परमात्मा के साथ है, वह राम, कृष्ण और क्राइस्ट के साथ तो है ही। लेकिन जो क्राइस्ट के साथ है या कृष्ण के साथ है, वह परमात्मा के साथ नहीं है! क्योंकि क्राइस्ट के साथ जो है, वह कृष्ण के विरोध में है! और राम के साथ जो है, वह मोहम्मद के पक्ष में नहीं! किंतु जो परमात्मा के साथ होता है, वह एक ही साथ सबके साथ हो जाता है। क्योंकि परमात्मा में किसी का कोई भी विरोध नहीं है। वैसा व्यक्ति किसी भी धर्म में नहीं होता है, क्योंकि वह धर्म में होता है।
मनुष्य जिस क्षण भी अपने सब आग्रह छोड़ देता है, उसी क्षण, उस निराग्रह भाव-दशा में ही सत्य के सब पर्दे गिर जाते हैं। वस्तुतः वे पर्दे सत्य पर नहीं, वरन हमारे चित्त पर ही पड़े होते हैं।

सत्य एक है और एक ही हो सकता है। किंतु उसकी धारणाएं अनेक हैं। एक की
ओर चलने के लिए अनेक का क्षेत्र छोड़ देना आवश्यक है।
एक पूर्णिमा की रात्रि, मैं सागर तट पर था। सागर की लहरों में चंद्रमा
के अनेक रूप प्रतिबिंबित हो रहे थे! चंद्रमा तो एक था, लेकिन सागर की लहरें उसे बहुत रूपों में प्रतिफलित करती थीं। जो मित्र साथ थे, उनसे मैंने कहा था, ऐसा ही मनुष्य का अशांत मन है। सत्य को अशांति के कारण वह बहुत रूपों में धारण करता है। लेकिन जो एक है, उसे जानने को, स्वयं एक और शांत होकर प्रतीक्षा नहीं करता! और यह भी मैंने उनसे कहा था, सागर की लहरों पर जो प्रतिफलन बन रहे हैं, वे सत्य नहीं हैं, उन्हें छोड़ कर उस ओर देखना आवश्यक है, जिनके कि वे प्रतिफलन हैं।
लेकिन दुर्भाग्य से हम तो प्रतिफलनों से ही तृप्त हो जाते हैं! धर्म
की जगह हम हिंदू, ईसाई या जैन होने से तृप्त हो जाते हैं! क्या यह उचित नहीं है कि जो धर्म में गति करना चाहे, उसे इन थोथी और सतही तृप्तियों से ऊपर उठना चाहिए। धार्मिक होने के लिए हिंदू, मुसलमान, सिख या पारसी होना छोड़ना चाहिए। ये बंधन मिट ही जाना चाहिए।
धर्म के लिए पंथों का मोह-त्याग, मूल्य की भांति चुकाना पड़ता है। संप्रदायों से जो जितना दूर जाता है, वह धर्म के उतने ही निकट आ जाता है। संप्रदायों पर जिसका प्रेम जितना कम हो जाता है, वह धर्म का उतना ही प्यारा बन जाता है।
यह भी सोचना आवश्यक है कि संप्रदायों और संगठनों से हमारा इतना राग क्यों है! क्योंकि व्यक्ति अकेले होने में भय खाता है। भीड़ के साथ होने से उसे यह भय नहीं सताता और सुरक्षा अनुभव होती है। बहुत गहरे में यही भय धार्मिक संगठनों से हमें बांधे रखता है। संप्रदाय मनुष्य के समूह में होने की आकांक्षा के शोषण हैं। मनुष्य की यह कमजोरी ही उनकी शक्ति है। इस कमजोरी का सहारा ले, वे किन्हीं भी सिद्धांतों और शास्त्रों का प्रचार कर सकते हैं और लोगों को उन्हें मानने को राजी कर सकते हैं! उनके पीछे जितनी बड़ी भीड़ हो, जितनी बड़ी संख्या हो, उनके द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित सत्य भी उतने ही ज्यादा सत्य मालूम पड़ने लगते हैं!
यही कारण है कि सभी संप्रदाय संख्या के बढ़ाने के लिए और उनकी संख्या
कम न हो जाए, इसके लिए सदा ही चेष्टारत होते हैं। इस प्रतिस्पर्धा में हिंसा, घृणा और हत्याएं--सभी पाप, पुण्य हो जाते हैं! युद्ध, धर्मयुद्ध हो जाता है! और निर्दोष व्यक्तियों के रक्त की भी झूठे देवताओं के लिए आहुति दी जा सकती है! धर्मों का इतिहास इन अत्याचारों और अनाचारों की कहानी का इतिहास है!
धर्मों की भित्ति भय पर है। जब कि धर्म की आत्मा है अभय।
अभय का अर्थ हैः अकेले होने का साहस।
वह वन जाने का साहस नहीं, वरन स्वयं से भीतर, भय के कारण स्वीकृत समस्त धारणाओं को छोड़ देने का साहस है। अपने भय के कारण हम स्वयं ही उन्हें पकड़े हुए हैं! कोई और मूलतः जिम्मेवार नहीं है। भय है और उससे सुरक्षा पानी है, तो किसी न किसी की शरण जाना ही होगा। शरणागत होने की प्रकृति भय से पलायन ही है। उससे भय तो नष्ट नहीं होता; बस व्यक्ति, पर-निर्भर हो जाता है।
भय से पर-निर्भरता आती है।
इस भांति हमारा चित्त एक ऐसे अंतहीन वृत्त में पड़ जाता है, जिसके बाहर जाने का फिर कोई द्वार ही नहीं मिलता है। द्वार तो है, लेकिन वह भय की अनुभूति में नहीं है। उससे पलायन के बाद फिर कोई द्वार नहीं है। भय है, तो उसे एक तथ्य की भांति स्वीकारें और उससे भागें नहीं। भागने पर तो, फिर परमात्मा भी उससे नहीं बचा सकता है। रुकें और भय के उस तथ्य में झांकें। झांकने पर ज्ञात होता है कि हम छाया से डरे हुए थे।
स्वयं के अकेलेपन को जानना और जीना धर्म का पथ है।
धर्म तो स्वयं की, स्वयं से, स्वयं तक, अत्यंत एकाकी उड़ान है।
उसका समूह से, संगठन से क्या संबंध?
धर्म तो आत्यंतिक रूप से वैयक्तिक और निजी क्रांति है।

क्या आपको स्वयं ही यह दिखाई नहीं पड़ता है? देखें! आंख खोलें और देखें! संप्रदायों के धुएं को हटाए, तो धर्म की निर्धूम ज्योति-शिखा अवश्य ही दिखाई पड़ती है।
समाज और घर को छोड़ने वाले संन्यासी तो हैं। लेकिन वास्तविक संन्यास
तो उन संस्कारों के छोड़ने से उपलब्ध होता है, जो कि घर और समाज, परंपराएं और जातियां हमें विरासत में दे देती हैं। चित्त के उन समस्त घेरों को तोड़ना आवश्यक है, जो कि दूसरों के द्वारा हमारे भीतर निर्मित किए गए हैं। सत्य की दिशा में यह पहला चरण है।
उस ज्ञान को व्यर्थ जानें, जो कि सिखाया गया है।
आस्तिकता सिखाई गई हो, तो आस्तिकता व्यर्थ है। और नास्तिकता सिखाई गई
हो तो नास्तिकता व्यर्थ है। आस्तिकता तो हजारों वर्षों से सिखाई जाती रही है! राज्य और धर्म उसका प्रचार करते हैं!
लेकिन इधर कुछ देश कुछ वर्षों से नास्तिकता भी सिखा रहे हैं! कुछ वर्षों के प्रचार से उसने करोड़ों लोगों को ईश्वर, धर्म, आत्मा और पुनर्जन्म के विरोध में सहमत कर लिया है! लोग राजी हो गए हैं कि धर्म अफीम का नशा है। और ईश्वर का सारा विचार ही अज्ञानपूर्ण है। और वे सारे लोग अज्ञानी थे, जिन्होंने देह के अतिरिक्त और किन्हीं सत्यों के अनुभव की बात की है।
ये वे ही लोग हैं जो कि ईश्वर को मानते थे और ईश्वर के पुत्र को मानते थे! वह मान्यता भी उन्हें दिया गया संस्कार थी। और जैसे वे पुराने प्रचार को मानते थे, वैसे ही उन्होंने नया प्रचार भी मान लिया है! मानने की आदत ही असल में घातक है। मस्तिष्क का वैसा ढांचा कुछ भी मानने को राजी हो सकता है। क्योंकि अंधविश्वास ही वैसे ढांचे का आधार है। और अंधापन अज्ञान का गढ़ है। धार्मिक चेतना स्वीकार करने वाली चेतना नहीं होती है। विद्रोह तो उसका प्राण ही है।
मैं विद्रोह सिखाता हूं, क्योंकि मैं मनुष्यता में धर्म का जन्म देखता हूं।
विद्रोह का क्या अर्थ है?
विद्रोह विरोध नहीं है। विरोध तो प्रतिक्रिया-जन्य होता है। प्रतिवाद में वाद छिपा ही रहता है।
विद्रोह तो एक प्रकार का जागरण है। विद्रोह तो एक ऐसे सजीव बोध में निहित होता है, जहां मन स्वयं जानने को जागरूक रहता है और किसी भी मान्यता को या मान्यता के विरोध को अपने भीतर इकट्ठा नहीं होने देता है। विद्रोह अंधश्रद्धा से भिन्न विवेक की दृष्टि है।
मैं निवेदन करूंगा कि अपने मन में खोजें और जहां भी प्रचारित और संस्कारित विश्वास मिलें, उन्हें जड़-मूल से उखाड़ कर फेंक दें। इस भांति ही मन की भूमि तैयार होती है। बाद में उसमें ज्ञान के बीज बोए जा सकते हैं और सत्य की फसल काटी जा सकती है।
बाहर से आए विश्वास, स्वयं तो थोथे और निर्जीव होते ही हैं, लेकिन उनके घास-पात के कारण चित्त अपनी उत्पादकता भी खोने लगता है। थोथे और अंधे विश्वासों के कारण ही बहुत से सृजनशील मन बिल्कुल ही निरुत्पादक पड़े रह जाते हैं। उनके कारण ज्ञान का भ्रम पैदा होता है और तब स्वभावतः ही ज्ञान की खोज बंद हो जाती है। उनके कारण धार्मिक होने का आभास होने लगता है, तब स्वभावतः ही वास्तविक धर्म को जानने से वंचित रह जाना पड़ता है। क्या इस अति स्पष्ट के लिए भी मुझे प्रमाण देने होंगे?
कितने लोग मंदिर जाते हैं, कितने लोग परमात्मा पर श्रद्धा रखते हैं, कितने साधु हैं, कितने संन्यासी हैं; लेकिन क्या उनमें से किसी के भी जीवन में धर्म की किरण दिखाई देती है? विश्वास पर आधारित धर्म जीवित नहीं हो सकता है। विश्वास नपुंसक है। उससे न तो कोई क्रांति होती है और न कोई परिवर्तन होता है। हां, धोखा अवश्य ही पैदा होता है। और उस धोखे में कितने ही जीवन नष्ट हो जाते हैं।

जीवंत धर्म विश्वास से नहीं, विवेक से जन्मता है। वही आपके प्राणों
की ऊर्जा बन सकता है। उसकी अग्नि में ही आप नये होते हैं और आपका नया जन्म होता है।
धर्म निश्चय ही व्यक्ति को द्विज बनाता है, उसे दूसरा जन्म देता है।
लेकिन वह धर्म दूसरों से नहीं मिलता है। उसे तो स्वयं ही खोजना पड़ता है। दूसरों से दिया हुआ धर्म केवल एक बौद्धिक आस्था ही बन कर रह जाता है।
वह किसी भी भांति आपकी समग्र आत्मा नहीं बन सकता है। और जो आपकी समग्र आत्मा नहीं है, वह आनंद भी नहीं है।
जिज्ञासा को स्वतंत्र करो। अपनी जिज्ञासा को मुक्त करो।
किससे स्वतंत्र? किससे मुक्त?
समाज से, संस्कार से, संप्रदाय से, सत्य के सिद्धांतों और शास्त्रों से। संस्कारों में जो आबद्ध है, उसके पैर तो भूमि में गड़े हैं। वह आकाश में कैसे उड़ सकता है?
समाज को छोड़ कर भागने को मैं नहीं कह रहा हूं। उस भांति के पागलपन के लिए मेरी दृष्टि में कोई भी स्थान नहीं। संन्यासियों से जब भी मिलता हूं, तो मैं उनसे यही कहता हूं कि समाज को छोड़कर भाग जाने से कुछ भी नहीं होता है। क्योंकि समाज के दिए संस्कार यदि आपके चित्त में बैठे हैं, तो भले ही समाज के बाहर चले आने के भ्रम में हों, लेकिन समाज अभी आपके भीतर ही बैठा हुआ है। समाज के बाहर नहीं, वह तो आपके भीतर है। समाज तो संस्कारों और विश्वासों में है। उन्हें छोड़ना ही असली तप और त्याग है।
परिवार और परिवेश को छोड़ कर भाग जाना कठिन नहीं है। कठिन है उस चित्त
को छोड़ना, जो कि समाज ने दिया है। उसे छोड़ने में बहुत कठिनाई होती है, क्योंकि एक अर्थ में वह स्वयं को ही तोड़ना है। संस्कारों को हटाना, अपने ही चित्त-भवन की ईंटों को हटाना है। बहुत साहस और श्रम की जरूरत है। परिचित चित्त में सुरक्षा है। वह जाना-माना है। फिर वैसे ही चित्त के और लोग भी हैं। उन सबके कारण उसका वैसा होना सत्य ही प्रतीत होता है।
संख्या मूर्खतापूर्ण से मूर्खतापूर्ण बात पर भी विश्वास दिला देती है!
ऐसी ही हमारी विचारसारिणी होती है कि जिस बात को इतने लोग मानते हैं,
वह अवश्य ही ठीक होनी चाहिए! इसी कारण से यदि समूह और भीड़ साथ हो, तो व्यक्तियों से ऐसे कार्य कराए जा सकते हैं, जो अकेले में वे कभी भी करने को राजी न होते। अकेले व्यक्ति को विचार पैदा होता है। भीड़ में वह भीड़ का हिस्सा हो जाता है और उसकी कोई निजी जिम्मेवारी नहीं रह जाती। भीड़ों ने जैसे अपराध किए हैं, वैसे अकेले व्यक्ति ने कभी नहीं किए!
यह स्मरण रहे कि जीवन में अनुभूति की--फिर चाहे वह सत्य की हो, सौंदर्य
की हो या शिवत्व की हो--जो भी श्रेष्ठतम ऊंचाइयां हैं, वे अकेले व्यक्तियों ने ही स्पर्श की है।
भीड़ों के ऊपर ही मनुष्य को नीचे गिराने का दोष मढ़ा जा सकता है।
समाज द्वारा प्रदत्त चित्त इसलिए भी सुरक्षित मालूम होता है, क्योंकि
वह परिचित है। अपरिचित में प्रवेश करने में, परिचित को छोड़ने का भय मालूम होता है। यह भय ही ज्ञात के ऊपर नहीं उठने देता। जब कि सत्य अज्ञात है और परमात्मा अज्ञात है।
ज्ञात को छोड़ना ही होगा, यदि अज्ञात को पाना है।
इसलिए ही साहस को मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण मानता हूं।
साहस को जगाओ और ज्ञान की लक्ष्मण-रेखा को लांघो। भूलें भी हो सकती हैं, लेकिन विवेक जाग्रत हो तो भूलों से बड़ी शिक्षा देने वाला और कौन सा गुरु है? फिर ज्ञात पर रुके रहने से बड़ी और कोई भूल नहीं है। उससे कोई शिक्षा भी नहीं मिलती है। सिवाय इसके कि उस पर रुके रहने की आदत प्रगाढ़ होती है और अज्ञात में जाने का साहस क्रमशः क्षीण होता जाता है तथा अलंघ्य पर्वतों के बुलावे और चुनौती के प्रति कान बहरे हो जाते हैं।
अज्ञात से भय बूढ़े होने का लक्षण है। युवा मन तो सदा ही अज्ञात चुनौती स्वीकार करने को तैयार और तत्पर होता है। सत्य के साक्षात के लिए बूढ़ा

नहीं; युवा मन चाहिए, जो अज्ञात और अपरिचित मार्गों के लिए सदा ही कटिबद्ध रहता है। वह इस तत्परता के कारण ही मन से कभी बूढ़ा नहीं होने पाता है। शरीर तो बूढ़ा होगा, लेकिन मन के बूढ़े होने की कोई भी अपरिहार्यता नहीं है। वह तो ज्ञात की लीक से बंधे रहने की हमारी वृत्ति के कारण बूढ़ा हो जाता है। साहस जिनमें नहीं है, वे बिना रीढ़ के प्राणियों की तरह जमीन पर ही रेंगते रहते हैं। साहस ही तो रीढ़ है।
उठो! और अपने साहस को जुटाओ।
संकल्प हो तो उसके केंद्र पर बिखरा हुआ साहस अवश्य ही इकट्ठा हो जाता है।
जीवन पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। क्या जमीन पर ही रेंगते रहना है
या कि ऊपर उठना है और सूर्य-लोक की यात्रा करनी है? जमीन पर रेंगते रहने का अंत, जमीन में कब्र को खोज लेने के अतिरिक्त क्या होगा?
लेकिन जो सूर्य की दिशा में यात्रा करते हैं, वे अमृत को उपलब्ध होते हैं। किंतु वह रास्ता अकेले का है। कोई दूसरा उसमें संगी-साथी नहीं हो सकता। समूह वहां साथ नहीं हो सकता। इसलिए जो उस लोक की यात्रा का अभीप्सु है, उसे अपने चित्त को सब भांति अकेला करना ही होगा। उसे स्वयं की स्वतंत्रता अर्जित करनी होगी।
चित्त जब तक समाज के संस्कारों का दास होता है, तब तक व्यक्ति समाज का
एक अंश मात्र ही होता है। और जब इन संस्कारों से कोई मुक्त होता है, तो पहली बार वह व्यक्ति बनता है। मैं ऐसे व्यक्ति नहीं चाहता हूं, जो कि समाज के अंश हों। वरन एक ऐसा समाज चाहता हूं, जो कि व्यक्तियों का जोड़ हो। स्वतंत्र व्यक्तियों से स्वतंत्र समाज भी निर्मित होता है।
साहस के अभाव के कारण ही हम दूसरों के उधार सत्यों को ढोते हैं। और जीवन की उत्तुंग ऊंचाइयों से परिचित होने से वंचित रह जाते हैं।
जीवन का वास्तविक अनुभव उस जीवन में नहीं है; जो कि जन्म से मिलता है, बल्कि उस जीवन में है, जो कि हम स्वयं ही पाते और अर्जित करते हैं।
जीवन, जो हो सकता है; आत्यंतिक रूप से वही होकर, वास्तविक बनता है। उसमें निहित सभी संभावनाएं जब वास्तविक बन जाती हैं। तभी वह भी वास्तविक हो, यह स्वाभाविक ही है। उस जीवन में जिसे कि हम दैनंदिन कार्यों के निरंतर पुनरुक्त होने वाले मैदानी और समतल मार्गों पर ही व्यय कर देते हैं... बहुत अज्ञात ऊंचाइयां हैं, बहुत अनजान गहराइयां भी हैं। और जो उनसे परिचित नहीं होता, वह स्वयं से ही परिचित नहीं हो पाता है।
लेकिन उन ऊंचाइयों और गहराइयों को पाने के लिए अदम्य साहस की अपेक्षा है। वह साहस भूमि पर सरकने वालों को तो दुस्साहस ही मालूम होगा। वैसा दुस्साहस जो करता है, वह पागल ही प्रतीत होता है। किंतु मेरी दृष्टि में तो वे लोग धन्य हैं, जो कि सत्य को पाने के लिए दुस्साहस करते हैं और पागल हो सकते हैं।
शास्त्रों को हटा दें, शब्दों को हटा दें और स्वयं को पूर्णतया उधार सत्यों से विच्छिन्न कर लें। ज्ञान की धूल को अपने चित्त से झाड़ दें। अज्ञान है भीतर, तो उसे ही स्वीकार करना है। उस अज्ञान में असुरक्षा ज्ञात हो, तो उस असुरक्षा को भी अंगीकार करना है। साहस का और अर्थ ही क्या है? असुरक्षा का सहज स्वीकार ही तो साहस है।
किंतु हम हैं कि असुरक्षा से भागते हैं और सुरक्षा की शरण लेते हैं!
इस कमजोरी का शोषण करने वाले बहुत हैं। वे अनेक-अनेक रूपों में सुरक्षा का आश्वासन देते हैं! और उन पर श्रद्धा करने और उनकी शरण गहने के अतिरिक्त उनकी कोई और शर्त भी नहीं होती है! इस भांति उनका अहंकार तृप्त होता है और हमारी सुरक्षा की आकांक्षा तृप्त हो जाती है! फिर तथाकथित गुरु, शास्त्र और संप्रदाय, सब इसी मानसिक शोषण पर जीते हैं।
लेकिन किसी भांति का पलायन न तो अज्ञान को ही नष्ट करता है और न वस्तुतः सुरक्षा ही लाता है। ज्ञान और सुरक्षा वस्त्रों की भांति ऊपर से ओढ़ लिए जाते हैं। और भीतर गहरे में अज्ञान और असुरक्षा का ही राज्य होता

है। शत्रु के प्रति आंखें बंद कर लेने से कुछ नहीं होता है। तथ्यों से डर कर, अतथ्यों में मुंह छुपाने से भी क्या होगा?
तथ्य से भागने से नहीं, तथ्य को ही उघाड़ने, उसके प्रति जागने और विश्लेषण करने से सत्य की प्राप्ति होती है।
सत्य उन तथ्यों में ही छिपा बैठा है, जिनसे कि हम भागना चाहते हैं!
एक बाग में मैं गया था। वहां मैंने किसी बहुत सुकोमल फूल के बीज देखे।
वे तो पत्थर जैसे सख्त और कठोर थे। मैंने कहाः बीज को देखो और फूल को देखो।
इस सुकोमल फूल की सुरक्षा के लिए ही ऐसी कठोर इस बीज की खोल है। इसमें ही वह कोमल अंकुर छिपा है, जो कि अपने प्राणों में फूलों को बसाए हैं।
अज्ञान की खोल में ही ज्ञान का दीया छिपा है।
और असुरक्षा के बीज में ही परम सुरक्षा के फूल सोए हुए हैं।
जीवन उनका है, जो उसे जीते हैं; उनका नहीं, जो कि उससे भागते हैं।
जीवन से पलायन व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी है।
विजय का सूत्र पलायन नहीं, परिवर्तन है।
स्वयं से भागो नहीं, वरन स्वयं को बदलो।
और बदलाहट के लिए साहस चाहिए, संकल्प चाहिए, श्रम चाहिए, शक्ति चाहिए।
और इन सबकी उत्पत्ति स्वयं पर श्रद्धा से होती है।
लेकिन हम स्वयं से नहीं, सदा और किसी की श्रद्धा में बंध जाते हैं! पर-श्रद्धा, आत्म-श्रद्धा का अभाव है।
उससे शक्ति नहीं, अशक्ति ही आती है और जीवन बहुत गहरे में पंगु हो जाता है।
आत्म-श्रद्धा शक्ति है। स्वयं पर विश्वास से ही शक्ति के सोए स्रोत सजग होते हैं। स्वयं पर जहां विश्वास है, वहीं, उसी केंद्र पर साहस इकट्ठा होता है। और यदि हम थोड़ा सा साहस जुटा पाएं, तो गति संभव हो जाती है। फिर गति से साहस आता है और साहस से गति बढ़ती है। चलने से ही चलने का विश्वास आता है और विश्वास आने से चलने की शक्ति बढ़ती है।
एक कदम भी जो उठा सकता है, वह फिर हजारों मील की यात्रा करने में समर्थ
हो जाता है। क्योंकि एक बार में एक कदम से ज्यादा तो किसी को भी नहीं उठाना है। और यदि कोई उठाना भी चाहे, तो भी उठा नहीं सकता।
बड़ी से बड़ी यात्रा एक-एक कदम उठा कर ही तय होती है।
और एक भी कदम न उठा सके, ऐसा कमजोर कौन है? हम यदि थोड़ा सा साहस और आत्म-विश्वास जुटाए, तो एक कदम तो निश्चित ही उठा सकते हैं। स्वयं की जड़ता में थोड़ा सा भी चैतन्य का प्रवेश, चेतना के जागरण के लिए प्रेरणा बन जाता है। शक्ति का थोड़ा सा भी प्रयोग--और शक्ति के सक्रिय होने के लिए आमंत्रण बन जाता है।
क्या वह भजन आपने सुना है, जिसमें कहा गया है-"परमात्मा, एक ही कदम मेरे लिए काफी है।" सच ही जिसे चलना है, उसके लिए एक कदम उठाने की शक्ति ही काफी है। जिसे नहीं चलना है, उसके पास कितनी भी शक्ति हो, तो वह उसका क्या करेगा? उसकी शक्ति ही उसका विनाश बन जाएगी। क्योंकि जिस शक्ति का उपयोग नहीं होता है, वह आत्मघाती रूपों में प्रयुक्त होने लगती है।
शक्ति यदि सृजन न बन सके, तो वह विनाश बन जाती है।
यह अक्सर ही मुझसे पूछा जाता है कि क्या कारण है, कि हम अपनी शक्ति और संकल्प को इकट्ठा नहीं जुटा पाते हैं और जीवन ऐसे ही चूक जाता है? क्या कारण है कि हमारी शक्ति सर्जक नहीं बन पाती है? क्या कारण है कि सत्य की दिशा में हमारे चरण नहीं उठ पाते हैं और हम भूमि में ही पड़े रह जाते हैं? मैं इस आधारभूत सवाल पर विचार करता हूं, तो मुझे दिखाई पड़ता है कि हम अपनी शक्तियों को इस कारण ही केंद्रित नहीं कर पाते हैं, क्योंकि सत्य की जिज्ञासा हमारे भीतर कभी ज्वलंत प्यास नहीं बन पाती है और मात्र बौद्धिक ऊहापोह ही बनी रहती है। बौद्धिक ऊहापोह इतनी सतही बात है कि उसके कारण गहरे में सोई हुई शक्तियां नहीं जाग सकती हैं। फिर जो मात्र वैचारिक है, उससे प्राणों की समग्रता अस्पर्शित ही रह जाती है।

प्राण तो विचार से नहीं, प्यास से आंदोलित होते हैं। और जब प्राण विकल होते हैं; तभी वह चुनौती आती है, जो कि शक्तियों को जगाती और एकत्रित करती है।
विचार और मात्र विचार अत्यंत निष्प्राण क्रिया है। इसलिए ही कोरे तत्व-चिंतक केवल चिंतन में ही चलते हैं। वस्तुतः उनके जीवन में कोई गति नहीं होती है। और इसलिए जीवन भी नहीं होता है। सत्य जिज्ञासा विचारणा की ही नहीं प्राणों की अभीप्सा भी बननी चाहिए। तभी यह यात्रा प्रारंभ होती है, जिसे कि मैं धर्म कहता हूं।
बौद्धिक जिज्ञासा, कोरा बौद्धिक ऊहापोह तो खुजली की खुजलाहट जैसा है।
वह तो एक रुग्णता है। उसमें जो भी रस है, वह भी अस्वस्थ और घातक है। साहस, शक्ति और संकल्प जिज्ञासा के केंद्र पर नहीं, अभीप्सा के केंद्र पर ही सक्रिय होते हैं।
जिज्ञासा, अभीप्सा तक ले चले तो शुभ है। लेकिन यदि वह अपने ही भीतर कोल्हू के बैल की भांति चक्कर लगाने लगे, तो अशुभ हो जाती है।
एक नवयुवक मेरे पास आया था। वह सत्य जानना चाहता था। मैंने उससे पूछा, "सत्य जानना चाहते हो या सत्य के संबंध में जानना चाहते हो?
सत्य के संबंध में जानना बहुत सरल है। लेकिन अंत में पाओगे कि जो जाना, वह सत्य नहीं है। और सत्य ही जानना चाहते हो, तो मार्ग पर्वतीय और बहुत दुर्लभ है। और सत्य मूल्य मांगता है। और छोटा-मोटा मूल्य नहीं, पूरे जीवन का ही मूल्य मांगता है।
क्या इतनी प्यास अनुभव होती है कि अपने प्राणों को बाजी पर लगा सको?
वह बहुत देर तक बैठा सोचता रहा! मैंने उससे कहा, प्यासा पानी पीने के लिए इतना नहीं सोचता है! जाओ और शास्त्रों को पढ़ो। शब्दों को सीखो और उनसे अपनी तृप्ति कर लो। किंतु स्मरण रखना कि सत्य विचारों के संग्रह से नहीं, वरन प्राणों की प्रज्वलित प्यास से ही पाया जाता है। जहां गहरी प्यास है, वहीं उसकी प्राप्ति है।
जिज्ञासा, मात्र जिज्ञासा तो कोरा कुतूहल है। वह बहुत अपरिपक्व मस्तिष्क का लक्षण है। परिपक्व जिज्ञासा को प्यास में बदल देती है--सत्य के संबंध में नहीं, तब हम सत्य को ही जानना चाहते हैं। उसके पूर्व फिर संतृप्ति नहीं होती है।
एक अदभुत साधु था बोधिधर्म। वह हमेशा दीवार की ओर ही मुंह करके बैठता था! लोगों की ओर पीठ और दीवाल की ओर मुंह! यह पागलपन ही है न? लेकिन जिनकी आंखों में सत्य की अभीप्सा न हो, उनकी ओर देख कर बात करना और दीवार की ओर बात करने में क्या भेद है?
बोधिधर्म से लोग इस असाधारण व्यवहार का कारण पूछते तो वह कहता, मैं तुममें भी दीवार पाता हूं। क्योंकि जिनके भीतर सत्य की अभीप्सा नहीं, जिन्हें उसकी प्यास नहीं है, उन पर उसकी वर्षा दीवार पर ही वर्षा है। सत्य भी केवल उनकी ओर मुंह करता है, जिनके प्राण उसके लिए प्यासे हो जाते हैं। सत्य भी केवल उनके लिए द्वार देता है जो कि अपनी-अपनी समग्र शक्ति और संकल्प से उसे पुकारते हैं।
सत्य की गहरी प्यास में ही स्वयं की बिखरी शक्तियां इकट्ठी हो जाती हैं। शक्ति हमेशा प्यास के केंद्र पर ही इकट्ठी होती है। जहां, जिस दिशा में प्यास है, वहीं शक्ति प्रवाहित होने लगती है। पानी जैसे ढाल की ओर बहता है, वैसे ही शक्ति भी प्यास की ओर बहती है। और पानी जैसे गड्ढों में इकट्ठा होता है, वैसे ही शक्ति भी प्यास में इकट्ठी हो जाती है। वस्तुतः प्यास ही शक्ति बन जाती है। प्यास ही शक्ति है।
एक प्रेयसी ने अपने प्रेमी से कहाः क्या तुम मुझे प्रेम करते हो? उस पागल प्रेमी ने कहाः कैसे विश्वास दिलाऊं? शब्द तो प्रमाण नहीं हो सकते! प्रेयसी ने कहा, गांव के पीछे जो पहाड़ है, उसे खोद कर अलग कर दो।!
रात्रि हो रही थी। सूरज डूब रहा था। वह युवक उठा, उसने फावड़ा उठाया और पहाड़ खोदने चला गया। और बड़ी मीठी कथा है कि सुबह होने के पूर्व उसने पहाड़ खोद कर फेंक दिया था।

यह बात कितनी काल्पनिक है, लेकिन फिर भी कितनी सच है। जिसके भीतर प्यास है, प्रेम है, उसके भीतर शक्ति भी है। जिसके भीतर आत्मविश्वास है, उसके भीतर शक्ति है। असल में मार्ग में पहाड़ हैं ही इसलिए कि हमारे भीतर ज्वलंत प्यास नहीं है। प्यास हो तो पहाड़ मिट जाते हैं। मार्ग की अड़चनें, प्यास के अभाव की प्रतीक हैं। प्यास की जलती अग्नि हो, तो कंटकाकीर्ण वनपथ भी राजपथ हो जाता है।
जिज्ञासा प्राणों को दांव पर नहीं लगा सकती। लेकिन अभीप्सा सभी कुछ दांव पर लगा सकती है। और जब तक सत्य प्राणों से भी ज्यादा मूल्यवान नहीं है; जब तक कि उस पर, उसके लिए स्वयं को न्योछावर नहीं किया जा सकता है, तब तक हम उसके दावेदार भी कैसे हो सकते हैं?
सत्य के ऊपर भी यदि कोई चीज आपको ज्ञात होती है, तो जान लें कि अभी आपकी प्यास पैदा नहीं हुई है और अभी वह शुभ मुहूर्त नहीं आया है कि आप उसकी खोज के लिए निकल सकें।
प्यास के बिना प्राप्ति असंभव है। निकट ही सरोवर हो और हमें प्यास न हो, तो उस सरोवर के दर्शन नहीं हो सकते। पानी की पहचान पानी में नहीं, प्यास में है। प्यास न हो तो पानी पहचाना ही नहीं जा सकता है।
रोज ही अनेक व्यक्ति मुझे मिलते हैं, जो कि सत्य की या परमात्मा की तलाश में हैं। साधु-संन्यासी मुझे मिलते हैं, जिन्होंने कि अपना पूरा जीवन ही गंवा दिया है, लेकिन सत्य को नहीं पा सके हैं! मैं उनसे पूछता हूं कि सबसे पहले यह खोजो कि सत्य को खोजने के पहले सत्य की प्यास पैदा हो गई है या नहीं? अगर स्वयं की प्यास पैदा नहीं हुई है और दूसरों के कहने के कारण सत्य की खोज में निकल पड़े हो, तो इस धंधे में गंवाने के सिवाय कमाना नहीं हो सकता है।
एक तो वह भूख है, जो मुझे अनुभव होती है। एक वह भूख भी है, जो कि यदि आप
सब कहें कि मुझे लगी है, तो मुझे आभासित होने लगे। लेकिन, निश्चय ही इन दोनों भूखों में जमीन-आसमान का भेद होगा। असत्य भूख की खोज भी असत्य ही होगी। उसकी ओर जीवन शक्ति का प्रवाह नहीं हो सकता है।
धर्मशास्त्रों के परंपरागत प्रचार और साधु-संन्यासियों के सतत उपदेशों के कारण सत्य की झूठी भूख भी पैदा हो जाती है। ऐसी भूख जीवन को बिल्कुल नष्ट कर देती है। फिर सत्य के अधिकांश तथाकथित खोजियों में तो सच्ची भूख तो दूर, झूठी भी नहीं होती! वे तो जीवन के उत्तरदायित्व से बचने के लिए ही इस दिशा में आ जाते हैं!
जीवन का संघर्ष बहुतों को जीवन से पलायन के लिए प्रेरित कर देता है। इसी पलायन का आत्यंतिक रूप आत्मघात में प्रकट होता है। फिर जहां ऐसे पलायन को भी संन्यास के नाम से आदर और पूजा मिलने की सुविधा हो, वहां तो बहुत ही सुविधा हो जाती है।
यही कारण है कि जिन देशों में, जिन जातियों में संन्यास की सुविधा और समादर है, उन देशों में और जातियों में आत्मघात की घटनाओं का अनुपात कम है। क्योंकि बहुत से भगोड़े संन्यास में शरण पा जाते हैं और बहुत से आत्मघाती प्रवृत्तियों के लोगों को भी जीवित रहते हुए भी मार्ग मिल जाता है! आलस्य और प्रमाद भी बहुतों को संन्यास में ले जाता है! श्रमहीन शोषण की प्रवृत्ति भी संन्यास में ले जाती है! अहंकार की तृप्ति भी ले जाती है! आत्म-हिंसा का भाव भी ले जाता है! इस तरह के रुग्ण चित्त लोगों को सत्य कैसे मिल सकता है? सत्य पाने के लिए बहुत स्वस्थ चित्त और सत्य की स्वस्थ और सच्ची भूख अपेक्षित है।
सत्य तो निरंतर मौजूद है, किंतु उससे हमारा संपर्क नहीं, संबंध नहीं! वस्तुतः तो संपर्क भी है, संबंध भी है, लेकिन हमें उस संपर्क का, संबंध
का बोध नहीं है!
सत्य में ही हम खड़े हैं। उसके बाहर होना संभव भी कैसे है! लेकिन उसकी खोज की, उसकी ओर आंखें उठाने की हममें गहरी आकांक्षा ही नहीं है!
इस आकांक्षा को, इस प्यास को, इस अभीप्सा को कैसे पैदा करें? कोई कृत्रिम उपाय तो हो नहीं सकता। और किसी कृत्रिम उपाय से जो प्यास पैदा भी

होगी, वह कृत्रिम ही होगी। प्यास सहज ही फलित होनी चाहिए। तो ही वह सत्य और अकृत्रिम और स्वाभाविक हो सकती है।
मैं स्वयं सत्य की स्वाभाविक अभीप्सा को सहज ही उपलब्ध हुआ। जीवन के प्रति आंखें खोलने से, वह मेरे भीतर अनायास ही पैदा होने लगी। जैसे-जैसे मैंने जीवन को--चारों ओर से घिरे हुए जीवन को अनुभव किया उसकी समग्रता में, बिना किसी पूर्वाग्रह के मैं उसके प्रति जैसे-जैसे जागा, वैसे-वैसे ही मैंने एक अभिनव आकांक्षा को स्वयं में जन्म पाते हुए पाया। मैं जगत और जीवन के प्रति जाग रहा था, तो मुझमें सत्य के प्रति प्यास जाग रही थी। जीवन को देखें--उसकी समग्रता में। उसके सौंदर्य को, उसकी कुरूपता को। उसके फूलों को और उसके कांटों को। पतझड़ को और बसंत को। जन्म को और मृत्यु को। प्रकाश को और अंधकार को। साधु को और असाधु को। सबको देखें--सब कुछ देखें। आंखें खुली हों। और किसी तथ्य के प्रति उन्हें बंद न करें। और किसी तथ्य की दूसरों से गृहीत व्याख्या न करें, क्योंकि ऐसी सीखी हुई व्याख्याएं ही स्वयं की जिज्ञासा के आविर्भाव में बाधा बन जाती हैं। शास्त्र और शब्दों के द्वारा जीवन को देखना, न देखने के ही बराबर है। जीवन और स्वयं के बीच सीधा संपर्क होने दें। जीवन का आघात स्वयं पर निर्बाध पड़ने दें। स्वयं को जीवन के प्रति खोलें- अशेष भाव से खोलें और देखें। किसी विचार की भूमि पर खड़े होकर न देखें, क्योंकि वह देखना नहीं है। किसी धारणा के बिंदु पर खड़े होकर अनुभव न करें, क्योंकि वह अनुभव करना ही नहीं है।
पक्षपात-शून्य, समस्त आग्रहों से मुक्त होकर, जो जीवन का अनुभव करता है, वह जीवन के सत्य को जानने की एक तीव्र अभीप्सा से भर जाता है।
और न केवल बाहर के प्रति सम्यक और निष्पक्ष दृष्टि चाहिए, बल्कि भीतर
के प्रति और भी ज्यादा चाहिए। स्वयं के चित्त के मार्गों को भी वैसे ही देखना पड़ता है, जैसे कि कोई किसी झरने को पहाड़ से झरते देखे या कि पक्षियों को आकाश में उड़ते देखे। क्रोध को और काम को, घृणा को और प्रेम को, मोह को और लोभ को, और मूलतः अहंकार को--सबको देखना है। उनका दर्शन ही सत्य के ज्ञान की गहरी प्यास जगाता है।
जीवन के दर्शन से रहस्य का अनुभव होता है। रहस्य से जिज्ञासा जन्मती है।
और स्वयं के चित्त के दर्शन से बहुत पीड़ा और अज्ञान का अनुभव होता है
और उसके अतिक्रमण की अभीप्सा पैदा होती है।
एक साधु मृत्यु के निकट था। शरीर तो मृत्यु में डूब रहा था, लेकिन उसकी आंखों में अपूर्व ज्योति थी। किसी ने उससे पूछा, मृत्यु में भी आप इतने शांत और आनंदित हैं?
वह बोलाः मैं जहां हूं, वहां मृत्यु नहीं है।
और किसी ने पूछाः आप साधु कैसे हुए? सत्य के खोजी कैसे हुए?
वह बोलाः "आंख खोल कर जगत को देखा और स्वयं को देखा। और स्वयं को देखा,
तो सत्य को खोजने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रहा। और जैसे-जैसे सत्य की दिशा में चरण उठे, वैसे-वैसे ही पाया कि जीवन से सारी असाधुता अपने आप ही बह गई है। साधु मैं कभी हुआ नहीं, उलटे साधुता ही मुझ तक आई है।
लेकिन, हम कहेंगे कि क्या हम आंखें खोल कर नहीं देख रहे हैं? आंखें तो हमारी भी खुली हुई दिखाई पड़ती हैं, लेकिन फिर भी वे खुली हुई नहीं हैं। क्योंकि, आंख जब खुलती हैं, तो जीवन की सारी मूर्च्छा टूट जाती है और सारा सम्मोहन नष्ट हो जाता है। आंखें खुली हों, तो पैर स्वयं सत्य की ओर बढ़ने लगते हैं। सत्य की अभीप्सा के अतिरिक्त आंखें खुली होने का और कोई प्रमाण नहीं है।
आंखें खोल कर देखने का क्या अर्थ है? अर्थ है, उस पर न रुक जाना, जो कि सामान्यतः दिखाई पड़ रहा है, वरन उस तक प्रवेश करना, जो कि दिखाई पड़ने वाले के पीछे छिपा है और दिखाई नहीं पड़ रहा है। जो दृश्य भी है, वह अदृश्य को छिपाए हुए है। दृश्य, अदृश्य की खोल मात्र है। आवरण ही है। वही सब कुछ नहीं है।

गौतम बुद्ध का जन्म हुआ तो ज्योतिषियों ने उनके पिता को कहा कि इस पुत्र के संन्यासी हो जाने की संभावना है। स्वभावतः पिता चिंतित हुए। यह एक ही उनका पुत्र था। उन्होंने पूछाः इसे संन्यास से बचाने का क्या उपाय है? और जो उपाय बताया गया, वह ऐसा था कि जिसके कारण बुद्ध की आंखें बंद रहें और जीवन के तथ्य उन्हें दिखाई न पड़ सकें। क्योंकि, जो जीवन के तथ्यों को नहीं देख पाता है, वह जीवन के सत्य को जानने की व्याकुलता से नहीं भर सकता है।
ऐसा ही किया गया। दुख, पीड़ा, मृत्यु--इनका बुद्ध को दर्शन न हो, ऐसी व्यवस्था की गई! जीवन के आघातों से उन्हें सुरक्षित रखा गया, क्योंकि आघात विचार पैदा करते हैं। उनके आस-पास सुंदर युवा और युवतियां ही आ-जा सकते थे! वृद्ध और रुग्ण व्यक्तियों को उनके पास नहीं ले जाया जाता था! उनके बाग में से कुम्हलाए फूल और पत्ते रात्रि में ही अलग कर दिए जाते थे, ताकि उन्हें किसी भी भांति जीवन के मुरझाने और समाप्त होने का ख्याल न आ सके! युवा होने तक वे मृत्यु तथ्य से अपरिचित थे! उन्हें ज्ञात ही नहीं था कि जगत में मृत्यु भी होती है! लेकिन यही व्यवस्था अंततः उनकी आंखें खोलने का कारण बन गई!
बुद्ध के पिता ने मुझसे पूछा होता, तो ऐसी भूल भरी सलाह मैं कभी न देता। चूंकि उन्होंने बुढ़ापे के तथ्य को कभी नहीं जाना था, इसलिए जब जाना, तो वे चौंक गए। और वह आघात इतना तीव्र और गहरा हुआ कि उनकी आंखें खुल गईं। यदि वे बचपन से ही इसके आदी होते, तो संभवतः आघात इतना तीव्र और आंदोलनकारी नहीं हो सकता था!
एक युवक महोत्सव में जाते हुए उन्होंने पहली बार किसी वृद्ध को और पहली बार किसी मृतक की शवयात्रा को देखा! उन्होंने अपने सारथी से पूछाः यह क्या हो गया है?
सारथी ने कहाः पहले व्यक्ति वृद्ध होता है फिर मर जाता है।
बुद्ध ने पूछाः क्या मैं भी ऐसे ही मर जाऊंगा?
सारथी ने कहाः प्रभु, कोई भी अपवाद नहीं है। जो जन्मता है, उसे मरना ही होता है।
बुद्ध ने कहाः रथ वापस लौटा लो। मैं वृद्ध हो गया हूं और मैं मर गया हूं।
इसे मैं आंखें खोल कर देखना कहता हूं।
मित्र, मैं पुनः दोहराता हूं, इसे मैं आंखें खोल कर देखना कहता हूं। बुद्ध युवा हुए, तब तक उनकी आंखें बंद थी। हममें से बहुत से बूढ़े हो जाते हैं, फिर भी उनकी आंखें बंद ही रहती हैं। जीवन के तथ्यों के हम इस भांति आदी हो जाते हैं कि उनका हम पर कोई आघात ही नहीं होता! उनके द्वारा हम पर कोई चोट ही नहीं पड़ती! और आघात न हो, तो विचार कैसे होगा? और आघात न हो तो जागरण असंभव है।
जीवन के प्रति हमारी संवेदनशीलता इतनी कम है कि आघात हमारी निद्रा को तोड़ने में असफल हो जाते हैं। और फिर इस निद्रा को हम बहुत सी शास्त्रीय व्याख्याओं से और भी गहरा, निरापद कर लेते हैं! जब कोई मरता है, तो हम कहते हैं, आत्मा तो अमर है!
आंखें खुली हों और हृदय संवेदनशील हो, तो मृत्यु की प्रत्येक घटना में स्वयं की मृत्यु के दर्शन होंगे ही। और उस दर्शन में ही वह आघात है, जो कि जीवन को अमृत की खोज में संलग्न करता है।
संवेदनशील चित्त सत्य को जानने को उत्सुक और आकुल हो ही उठता है। गहरी संवेदनशीलता ही धार्मिक चित्त की आधारभूमि है। जड़ता धर्म में नहीं ले जा सकती है। लेकिन हम तो करीब-करीब जड़ की भांति व्यवहार करते हैं!
क्या रात्रि में आकाश के तारे आपके प्राणों को झंकृत करते हैं? क्या पतझड़ में उड़ते सूखे पत्ते आपके हृदय की गहराई में कोई प्रतिध्वनि जगा जाते हैं? क्या पड़ोसी की पीड़ा आपको स्पर्श करती है? क्या राह खड़े वृद्ध भिखारी की आंखों में आपको अपनी ही आंख दिखाई पड़ती है? वीणा के तारों की भांति संवेदनशील हृदय ही जीवन के सुखों-दुखों, सौंदर्य-असौंदर्य, आंसुओं

और आनंदों के प्रति सजग और सचेत हो पाता है। इस सजगता को ही मैं आंखों को खोलकर देखना कहता हूं। और आंखें खुली हों, तो और भी बहुत कुछ दिखाई पड़ता है।
हमने सुना है कि महावीर के पास राज्य था, बुद्ध के पास राज्य था। लेकिन वे अपने राज्य को ठोकर मार कर चले गए! फिर भी हम तो राज्य की ही खोज में लगे हैं! जिनके पास मात्र धन है, क्या उनके पास आनंद भी है? लेकिन हम तो धन की ही खोज में लगे हैं! जिनके पास मात्र पद है, क्या वे शांति में हैं? लेकिन हम तो पदों की ही खोज कर रहे हैं!
निश्चय ही हम अंधे होंगे, नहीं तो जिन गड्ढों में दूसरे गिरे हैं, हमारी यात्रा भी उन्हीं गड्ढों की ओर क्यों होती?
और क्या हमने कभी सोचा है, विचारा है कि महत्वाकांक्षी चित्त आनंद और शांति को कैसे पा सकता है? जहां तृष्णा है, वहां दुख अपरिहार्य है। वस्तुतः दुख के सारे बीज तृष्णा में ही तो छिपे होते हैं।
स्पष्ट आंखें खुली हों, तो हम स्वयं के चित्त को देखेंगे और जानेंगे।
उसकी थोथी अहंता दिखाई पड़ेगी। विनम्रता में भी उसके दर्शन होंगे। हिंसा दिखाई पड़ेगी। तथाकथित अहिंसक आचरण में भी उसकी छाया होगी। घृणा, क्रोध और प्रतिशोध का सतत दर्शन होगा। लोभ और तृष्णा श्वास-श्वास में अनुभव होगी।
वह रूप हमारी वास्तविकता नहीं है, जो कि हम दूसरों को दिखाते हैं। थोड़ा ही गहरा देखने से उस व्यक्ति से मिलना होगा, जो कि वस्तुतः हम हैं। और उसकी पशुता का दर्शन ही उसे अतिक्रमण करने के लिए पर्याप्त कारण और प्रेरणा बन जाता है।
इस तथाकथित जीवन को उसकी समस्त नग्नता में-बाहर और भीतर उसके समस्त रूपों में देखने से ज्ञात होता है कि हम जिस भवन को अपना निवास समझे हुए हैं, वह लपटों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है!
और इन लपटों के दर्शन से विचार उठता है कि क्या जीवन यही है? क्या यही
है हमारे होने की सार्थकता? क्या यही है हमारे अस्तित्व का अर्थ और अभिप्राय?
और स्वयं जिसने इन लपटों को जाना और पहचाना है और उनके ताप का अनुभव किया है और उनकी जलन में से गुजरा है, उसके लिए यह जिज्ञासा मात्र बौद्धिक ऊहापोह नहीं रह जाती है; उसके लिए तो बन जाती है यह जीवन-मरण की समस्या। उसके लिए यह प्रश्न अति गंभीर हो उठता है। उसके समाधान पर ही अब उसके प्राण निश्चिंत हो सकते हैं। यह खोज उसके लिए समस्या ही नहीं, संताप बन जाती है।
और स्मरण रहे कि जीवन की समस्या, जहां एक जीवंत संताप है, वहीं, उस संताप के निकट ही सत्य भी है। क्योंकि संताप सत्य को जानने के लिए प्राणों को उनकी समग्रता में व्याकुल कर देता है। और यह व्याकुलता एक ऐसे आंदोलन का प्रारंभ बन जाती है, जो कि अंततः आत्म-क्रांति में ले जाती है।
लेकिन, जीवन का संताप स्वयं अनुभव होना चाहिए। वह किसी की शिक्षा का
फल नहीं हो सकता है। मैं कह रहा हूं, इसलिए आप मान लें कि जीवन-गृह में आग लगी है, तो वह अनुभूति झूठी और मिथ्या होगी। और वैसी प्रतीति उस गृह के बाहर आने के लिए या गृह बदलने के लिए आधार नहीं बन सकती है।
मैं किसी घर में ठहरा होऊं और कोई मुझसे आकर कहे कि भवन में चारों ओर
आग लगी है, लेकिन मुझे स्वयं कहीं भी आग दिखाई न पड़ती हो, तो मैं क्या करूंगा? क्या मैं उस घर को छोड़ दूंगा? और यदि छोड़ भी दूं, तो क्या वह छोड़ना मूर्खतापूर्ण ही नहीं होगा? लेकिन यदि मुझे स्वयं ही दिखाई पड़े कि भवन लपटों से घिरा है, तो क्या मैं बाहर निकलने के लिए किसी की सलाह लेने जाऊंगा? या कि बाहर निकलने की सम्यक विधि खोजने को शास्त्रों का अध्ययन करने बैठूंगा?
नहीं मित्र, तब तो दर्शन ही कर्म बन जाता है। यह देख लेना ही कि मैं लपटों से घिरा हूं, बाहर निकलने के सहज और अंततः प्रेरित कर्म में परिणत हो जाता है।

आंखें बंद हों तो हम एक निद्रा में होते हैं, एक मूर्च्छा में और एक सम्मोहन में। उसके कारण उस सबके प्रति अचेत बने रहते हैं, जो कि चारों ओर प्रतिक्षण घटित हो रहा है।
आंखें खोलो और देखो! धर्म में जो उत्सुक होते हैं, वे तो उलटे आंखें बंद करने का अभ्यास करने लगते हैं!
मैं कहता हूं, आंखें खोलो और देखो।
क्या आपका भवन अग्नि की भेंट नहीं चढ़ा हुआ है? क्या जिस भूमि पर आप खड़े हैं, वहीं आपकी चिता बनने को नहीं है? हम सब चिता पर चढ़े हुए हैं! चिता की आग प्रतिपल हमें अपने आपमें मिलाती जा रही है। थोड़ी देर बाद जिसे हमने जीवन जाना है, वह राख के अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध होने को नहीं है।
एक सुबह मैं उठकर बैठा ही था कि कुछ मित्र आ गए। वे मुझे खूब बधाइयां देने लगे! मैंने पूछा, बात क्या है? वे बोले, आपका जन्मदिन हैं।
यह सुन खूब हंसी आई और मैंने उनसे कहा, जो जन्मदिन है, क्या वही मृत्यु-दिन भी नहीं है? क्योंकि जन्म के क्षण के बाद जिसे हम जीवन मानते हैं, वह मृत्यु के क्रमिक आगमन के अलावा और क्या है? जिस दिन पालने पर किसी को रखा जाता है, उसी दिन उसकी कब्र भी खुदनी शुरू हो जाती है।
जन्म जीवन नहीं है, क्योंकि जन्म तो मृत्यु का प्रारंभ है।
निश्चय ही जो जीवन है, वह जन्म और मृत्यु दोनों के अतीत ही हो सकता है। क्या विचार करने से यह प्रतीति नहीं होती है? क्या जन्म और मृत्यु के तथ्यों में झांकने से तृप्ति होती है? जो उन्हें जाग कर देखता है, वह उनसे तृप्त नहीं होता है। और उसकी अतृप्ति ही वास्तविक जीवन के लिए अभीप्सा बन जाती है।
धर्म की साधना धर्म को मानने से नहीं, वरन जीवन को जानने से प्रारंभ होती है। वह विश्वास नहीं, विवेक है। वह दूसरों के द्वारा अनुप्रेरित कामना नहीं, वरन स्वयं की अंतःसत्ता, अभीप्सित जीवन है।

पथ की खोज
सातवां प्रवचन

सत्य से अज्ञात सागर का आमंत्रण

मैं विचार करता हूं कि किस संबंध में आपसे बातें करूं! बातें इतनी ज्यादा हैं और दुनिया इतनी बातों से भरी है कि संकोच होना स्वाभाविक है। बहुत विचार हैं, बहुत उपदेश हैं! सत्य के संबंध में बहुत से सिद्धांत हैं! डर लगता है कि कहीं मेरी बातें भी उस बोझ को और न बढ़ा दें, जो मनुष्य के ऊपर वैसे ही काफी हैं।
बहुत संकोच अनुभव होता है। कुछ भी कहते समय डर लगता है कि कहीं वह बात आपके मन में बैठ न जाए। बहुत डर लगता है कि कहीं मेरी बातों को आप पकड़ न लें। बहुत डर लगता है कि कहीं वे बातें आपको प्रिय न लगने लगें, कहीं वे आपके मन में स्थान न बना लें। क्योंकि मनुष्य विचारों और सिद्धांतों के कारण ही पीड़ित और परेशान है। उपदेशों के कारण ही वह बंधा है और परतंत्र है।
मनुष्य के जीवन में दूसरे के द्वारा कही गई और दी गई बातें ही उस सत्य
के बीच बाधा बन जाती हैं, जो कि स्वयं उसके ही पास हैं और सदा से हैं। ज्ञान बाहर से उपलब्ध नहीं होता है। और जो तथाकथित ज्ञान बाहर से उपलब्ध हो जाए, वह ज्ञान को रोकने में कारण हो जाता है।
मैं भी बाहर हूं। मैं जो भी कहूंगा, वह भी बाहर है। उसे फिर ज्ञान मत समझ लेना। वह ज्ञान नहीं है। वह आपके लिए ज्ञान नहीं हो सकता है।
जो भी कोई दूसरा आपके लिए देता हो, वह आपके लिए ज्ञान नहीं हो सकता है। हां, उससे एक खतरा हो सकता है कि वे बातें आपके अज्ञान को ढक दें। आपका अज्ञान आवृत हो जाए, छिप जाए और आपको ऐसा प्रतीत होने लगे कि मैंने कुछ जाना है। सत्य के संबंध में यह जान कर भ्रम पैदा हो जाता है कि मैंने सत्य को जाना है! सत्य के संबंध में पढ़ कर यह धारणा बन जाती है कि मैं सत्य को जान गया हूं। और जिनको ऐसी धारणाएं बन जाती हैं, वे फिर सत्य को पाने में असमर्थ हो जाते हैं और पंगु हो जाते हैं।
सबसे पहले यह कह दूं कि बाहर से जो भी आता है, वह ज्ञान नहीं हो सकता है। वह सूचनाओं से अधिक नहीं है। और सूचनाएं सत्य नहीं हो सकती हैं।
और स्वाभाविक है कि मुझसे पूछा जा सकता है कि फिर मैं बोलूं--मैं क्यों कुछ कहूं, मैं बाहर हूं। और निश्चय ही आपसे कुछ कहूंगा--क्या कहूंगा? सत्य नहीं, बस सत्य के मार्ग की बाधाएं हटाने के लिए कहूंगा। मैं इतनी ही बात कहना चाहता हूं कि बाहर जो भी है, वह सब बाहर का समझें और उसे ज्ञान नहीं समझें। वह चाहे मेरा हो, वह चाहे किसी और का हो।
ज्ञान मनुष्य के भीतर उसका स्वरूप है। उस स्वरूप को जानने के लिए बाहर खोजने की कोई जरूरत नहीं है। बाहर खोजते हैं, इससे ही तो उसे खोते हैं। बाहर से जो भी सीख लेंगे, वही बाधा बन जाएगा। यदि उस सत्य को जानना हो, जो हमारे भीतर है; तो उसे अनसीखा करना होगा, उसे बाहर करना होगा, उसे छोड़ देना होगा। जिन्हें जानना है, उन्हें शास्त्र को छोड़ देना होता है। जो शास्त्र को पकड़ेंगे, सत्य उन्हें उपलब्ध नहीं होगा।
हम सारे लोग शास्त्र को पकड़े बैठे हैं! दुनिया में जो इतने उपद्रव हैं, वे इन शास्त्रों को पकड़ने से है!
ये जो हिंदू हैं, ये जो मुसलमान हैं, ये जो जैन हैं, ये जो पारसी हैं--ये कौन हैं, इनको कौन लड़ाता है? इनको कौन एक-दूसरे से अलग कर रहा है?
शास्त्र अलग कर रहे हैं, शास्त्र लड़ा रहे हैं! सारी मनुष्यता खंडित है, क्योंकि कुछ किताबें कुछ लोग पकड़े हुए हैं, कुछ दूसरी किताबें कुछ दूसरे लोग पकड़े हुए हैं! किताबें इतनी मूल्यवान हो गई हैं कि वे मनुष्य की हत्या तक कर सकते हैं!
पिछले हजारों वर्षों से हमने लाखों-लाखों लोगों की हत्याएं की हैं, क्योंकि किताबें बहुत मूल्यवान हैं, क्योंकि किताबें बहुत उच्च हैं! किताबों के लिए, मृत किताबों के लिए--मनुष्य के भीतर जो परमात्मा बैठा है,

101

वह कभी भी अपमानित किया जा सकता है, उसकी हत्या की जा सकती है! क्योंकि शास्त्र बहुत मान्य है--इसलिए मनुष्यता को अमान्य किया जा सकता है, अस्वीकार किया जा सकता है! यह हुआ है, यह आज भी हो रहा है!
मनुष्य-मनुष्य के बीच जो दीवार है, वह शास्त्रों की है।
और आश्चर्य तो यह है कि कभी यह ख्याल पैदा नहीं होता कि जो शास्त्र मनुष्य को मनुष्य से अलग करते हों, वे मनुष्य को परमात्मा से कैसे जोड़ सकते हैं? जो मनुष्य को मनुष्य से ही तोड़ देता हो, वह मनुष्य को परमात्मा से जोड़ने की सीढ़ी कैसे बन सकता है?
लेकिन हम अपने अज्ञान में सोचते हैं कि शायद शास्त्र में कुछ मिले! जरूर कुछ मिलता है। शब्द मिलते हैं, सत्य को दिए हुए शब्द मिल जाते हैं! और शब्द स्मरण हो जाते हैं। वे हमारी स्मृति में प्रविष्ट हो जाते हैं और स्मृति को हम ज्ञान समझ लेते हैं! स्मृति ज्ञान नहीं है।
कुछ चीजें सीख लेना, स्मरण कर लेना, ज्ञान नहीं है। ज्ञान का जन्म बहुत दूसरी बात है। स्मृति का प्रशिक्षण बहुत दूसरी बात है। स्मृति के प्रशिक्षण से कोई पंडित हो सकता है, लेकिन उससे प्रज्ञा जाग्रत नहीं होती है। स्मृतिजन्य पांडित्य जड़ता लाता है, जबकि ज्ञान तो जीवन में आमूल क्रांति कर देता है। ज्ञान ही जीवन को जीवंत बनाता है।
तो मैं कोई उपदेश देने का किंचित भी पाप करने को तैयार नहीं हूं। जो
भी उपदेश देते हैं, वे हिंसा करते हैं; वे पाप करते हैं।
मित्र, मैं उपदेश देने को नहीं हूं। मैं उपदेशक नहीं हूं। मैं तो सत्य
के प्रति स्वयं कैसे जागें, बस वही आपसे कहना चाहता हूं। वह भी इसलिए नहीं कि आप उसे मान लें। वरन इसलिए कि आप उसे सोचें। और हो सकता है कि उसके प्रति जागने में वह सत्य आप में भी जाग जाए। क्योंकि निष्पक्ष चित्त से किसी भी विचार के प्रति जागने से स्वयं में निश्चय ही बहुत सी अंतर्दृष्टियों का जन्म होता है।
जो भी कहता है कि मेरी बात मान लो, वह आपका दुश्मन है। जो भी कहता है कि श्रद्धा कर लो, वह घातक है। वह आपके जीवन को विकसित होने से रोकेगा। जो भी कहता है कि विश्वास करो, वह विवेक के जागरण में बाधा हो जाएगा।
और मनुष्य ने बहुत विश्वास किया है। और विश्वास का जो परिणाम है, वह हमारी दुनिया है। इससे बदतर दुनिया और क्या हो सकती है? इससे ज्यादा रुग्ण और अस्वस्थ मनुष्यता और क्या हो सकती है?
इस बीमार सभ्यता के मूल में वे विश्वासी लोग हैं, जिन्होंने सदा आंख बंद करके श्रद्धा की है और स्वयं के विवेक को प्रसुप्त रखा है। स्वयं के प्रति इससे बड़ा कोई अपराध नहीं है, क्योंकि शेष सब अपराध इसी अंधेपन से पैदा होते हैं। और मनुष्य की पंगु स्थिति उसके विवेक के लंगड़ेपन से ही उत्पन्न हुई है।
और हम आज भी विश्वास किए जा रहे हैं--कोई मंदिर में, कोई मस्जिद में, कोई चर्च में; कोई इस किताब में, कोई उस किताब में; कोई इस मसीहा में, कोई उस मसीहा में! सारी दुनिया विश्वास करती है! लेकिन विश्वास के बावजूद यह परिणाम है!
लेकिन विश्वास का जहर पिलाने वाले और उसके आधार पर ही शोषण करने वाले कहेंगे कि विश्वास कम है, इसलिए ही यह परिणाम है! विश्वास से पैदा हुए अंधेपन को भी वे विश्वास की कमी के कारण बतलाते हैं! उनका बतलाना नहीं, किंतु हमारा उसे मान लेना तो एक अविश्वसनीय चमत्कार ही है।
मैं कहता हूं कि परमात्मा करे कि विश्वास बिल्कुल शून्य हो जाएं। क्योंकि विश्वास की पूर्णता विवेक की मृत्यु के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? विश्वास पूरा हुआ तो मनुष्य गया, क्योंकि विवेक भ्रष्ट हो जाएगा। विश्वास विवेक का विरोधी है।
जब भी कोई कहता है कि हमारी बात मान लो, तभी वह यह कहता है कि तुम्हें जानने की कोई जरूरत नहीं है! जब भी कोई कहता है कि विश्वास कर लो, तो वह यह कहता है कि तुम्हें अपने पैरों की कोई आवश्यकता नहीं है! जब कोई कहता है कि

श्रद्धा करो, तब वह यह कहता है कि तुम्हें अपनी आंखों की जरूरत नहीं है, हमारे पास आंखें हैं।
मैंने एक छोटी सी कहानी सुनी है।
एक गांव में एक आदमी की आंखें चली गयीं। वह बूढ़ा था, बहुत बूढ़ा था।
उसकी कोई नब्बे वर्ष की उम्र थी। उसके घर के लोगों में उसके आठ लड़के थे। उन आठों ने उससे प्रार्थना की, कि आंखों का इलाज करवा लिया जाए। सब कहते हैं कि आंखें ठीक हो जाएंगी।
लेकिन उस बूढ़े आदमी ने कहा कि मुझे आंखों की क्या जरूरत है? मेरे आठ लड़के हैं, उनकी सोलह आंखें हैं। उनकी आठ पत्नियां हैं, उनकी सोलह आंखें हैं। ऐसे मेरे पास बत्तीस आंखें हैं। फिर मुझे खुद आंखों की क्या जरूरत है? मुझे क्या जरूरत है आंखों की? मैं अंधा भी जी लूंगा। उन लड़कों ने बहुत प्रार्थना की, लेकिन वह बूढ़ा माना नहीं! उसने कहाः मुझे जरूरत ही क्या है, मेरे घर में मेरी बत्तीस आंखें हैं!
लेकिन एक रात को भवन में आग लग गई। वे बत्तीस आंखें बाहर हो गयीं, वह बूढ़ा भीतर रह गया! वे बत्तीस आंखें बाहर हो गयीं! और तब याद आया कि अपनी ही आंखें काम आती हैं, किसी और की आंखें काम नहीं आ सकती हैं।
अपना ही विवेक काम आता है, किसी दूसरे से मिले हुए विश्वास काम नहीं आते हैं।
जीवन में चारों ओर चौबीस घंटे आग लगी हुई है! हम चौबीस घंटे जीवन की आग में खड़े हुए हैं! वहां अपनी ही आंख काम आ सकती है, किसी और की नहीं--महावीर की, न कृष्ण की, न बुद्ध की, न राम की, न मेरी और न किसी और की। किसी की आंख किसी दूसरे के काम नहीं आ सकती।
लेकिन तथाकथित धार्मिक लोग, धर्म के व्यवसायी, धर्म के नाम पर शोषण करने वाले लोग समझाते हैं कि विश्वास करो, विवेक की क्या जरूरत है, तुम्हें विचार की क्या जरूरत है! विचार तो उपलब्ध हैं, दिव्य विचार उपलब्ध हैं, इन पर विश्वास करो!
और हम उन विचारों पर विश्वास करते रहे हैं और निरंतर नीचे से नीचे चले
गए हैं। हमारी चेतना निरंतर नीचे से नीचे चली गई है। विश्वास से कोई चेतना ऊपर नहीं उठती। विश्वास तो आत्महत्या है, इसीलिए मैं नहीं कहता कि किसी बात पर विश्वास करो। मैं कहता हूं, विश्वास से अपने को मुक्त कर लो। विश्वास से मुक्ति में ही विवेक का जागरण है।
जिस व्यक्ति को भी सत्य का जीवन में अनुभव करना हो और जिस व्यक्ति को
भी प्रभु के प्रकाश और प्रेम को अनुभव करना हो, वह स्मरण रखे कि सब भांति के विश्वासों से स्वतंत्र हो जाना, उस मार्ग पर पहली और अनिवार्य शर्त है। स्वतंत्रता-चित्त की स्वतंत्रता, विवेक की स्वतंत्रता पहली शर्त है सत्य को जानने के लिए।
और जिसका चित्त स्वतंत्र नहीं, स्मरण रखें। वह कुछ भी जान ले, सत्य को नहीं जान सकेगा। सत्य के द्वार पर प्रवेश पाने के लिए चेतना का स्वतंत्र होना अत्यंत अनिवार्य है।
विश्वास बांधते हैं, परतंत्र करते हैं। श्रद्धाएं बांधती हैं, परतंत्र करती हैं। शास्त्र और सिद्धांत बांधते हैं और परतंत्र करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है, एक घर में आप पैदा हो जाते हैं, संयोग से-- हिंदू कहो या मुसलमान कहो। और जन्म के साथ आपको विश्वास दे दिया जाता है और फिर जीवन भर आप उससे बंधे रहते हैं! फिर जीवन भर आप कहते हैं कि मैं तो हिंदू हूं, मुसलमान हूं, ईसाई हूं, जैन हूं!
कहीं जन्म के साथ कोई ज्ञान मिलता है? जन्म का ज्ञान से कोई संबंध है? पैदाइश से धर्म का कोई संबंध है? अगर पैदाइश से ही दुनिया में लोग धार्मिक हों तो सारी दुनिया आज धार्मिक होनी चाहिए।
यह दुनिया इतनी अधार्मिक है, क्या यही इस बात का सबूत नहीं है कि जन्म
के साथ धर्म का कोई संबंध नहीं हो सकता है?

लेकिन हम सब जन्म से धार्मिक बने हुए हैं! और ये जन्म से बने हुए धार्मिक ही सारे उपद्रव के कारण हैं। दुनिया में इनके कारण ही धर्म का अवतरण नहीं हो पाता है।
जन्म से कोई धार्मिक नहीं होता है, जीवन से धार्मिक होता है। जन्म से किसी का कोई संबंध किसी विश्वास से होने का कोई कारण नहीं है।
लेकिन इससे पहले कि हमारा विवेक जाग्रत हो, हमारा समाज, हमारा परिवार, हमारे मां-बाप, शिक्षक, उपदेशक हमें विश्वास पकड़ा देते हैं! इसके पहले कि विवेक मुक्त आकाश में विचरण करे, विश्वास की जंजीरें उसे जमीन पर रोक लेती हैं और बांध लेती हैं! फिर जीवन भर हम उसी विश्वास के घेरे में भटकते रहते हैं, फिर हम कभी सोच नहीं पाते हैं!
जिस आदमी का कोई भी विश्वास है, जिसकी कोई श्रद्धा है, वह आदमी कभी विचार नहीं कर सकता है, क्योंकि वह हमेशा अपने विश्वास के बिंब से ही देखना शुरू करता है। वह जो भी विचार करेगा, वह पक्षपातपूर्ण होगा। वह जो भी विचार करेगा, उसकी पूर्व-धारणा में आबद्ध होगा। वह जो भी विचार करेगा, वह हमेशा उधार और झूठा होगा। वह उसका निज का नहीं हो सकता है। और जो विचार अपना न हो और जो विवेक अपना न हो, वह असत्य है। उसकी कोई सच्चाई नहीं है। वह कोई वास्तविक आधार नहीं है, जिस पर जीवन खड़ा किया जा सके।
मैं देश भर में लोगों से यही पूछ रहा हूं कि आपके विश्वास तो बहुत हैं, कोई विचार भी है? वे कहते हैं, बहुत विचार हैं। मैं पूछता हूं कि कोई एकाध भी आपका अपना है या कि सब दूसरों के हैं और उधार हैं! जो संपत्ति दूसरे की है, उससे आपके जीवन में कौन सा प्राण मिलेगा?
लेकिन हमारी सारी विचार की संपत्ति उधार है और पराई है, वह दूसरे की है! यह चित्त की अत्यंत गहरी परतंत्रता है। और चित्त को सबसे पहले इस परतंत्रता से मुक्त होना ही चाहिए। मनुष्य का नया जन्म तभी संभव होता है, जब उसकी चेतना उधार विचारों और पराई धारणाओं से मुक्त होती है।
सत्य की खोज में स्वतंत्रता को मैं पहला तत्व कहता हूं।
जो भी सत्य की खोज में जाना चाहते हैं, जिनके भीतर भी प्यास जगी है कि
वे जानें कि जीवन का अर्थ क्या है? जिनके भीतर भी यह अभीप्सा चमकी है कि वे समझें कि यह सब जो है--मेरे चारों तरफ फैली सत्ता, उसका प्रयोजन क्या है? उन सबके लिए स्वतंत्रता जीवन-साधना की अनिवार्य सीढ़ी है।
यदि वे चाहते हैं कि जानें कि क्या है अमृत, और क्या है आनंद, और क्या
है परमात्मा, तो स्मरण रखें, पहली शर्त, पहली भूमिका होगी कि वे अपने चित्त को स्वतंत्रता की तरफ ले जाएं, चित्त को पूर्णरूप से स्वतंत्र कर दें। अगर अंततः स्वतंत्रता चाहिए तो प्रथम चरण में ही स्वतंत्रता के आधार देने होंगे।
लेकिन हम सारे बंधे हुए लोग हैं! हम सारे लोग किसी न किसी विश्वास से बंधे हुए हैं। और क्यों बंधे हुए हैं? इसलिए बंधे हुए हैं कि ज्ञान के लिए साहस और श्रम करना होता है। और विश्वास के लिए कोई साहस और श्रम करने की जरूरत नहीं। विश्वास करने के लिए किसी तरह की साधना की कोई जरूरत नहीं। किसी दूसरे पर विश्वास कर लेने के लिए निश्चय ही आपके भीतर साहस की, श्रम की, तपश्चर्या की अत्यधिक कमी अवश्य है।
गहरा आलस्य और तामसिक वृत्ति हो तो विश्वास सहज हो जाता है।
जो खुद नहीं खोज पाता है, वह मान लेता है कि जो दूसरे कहते हैं, ठीक ही कहते हैं।
सत्य के प्रति जिसके मन में कोई श्रद्धा नहीं है, वही सत्य के संबंध में प्रचलित सिद्धांतों में श्रद्धा कर लेता है। सत्य के प्रति जिसकी प्यास सच्ची नहीं है, वही केवल दूसरे के दिए हुए विचारों पर विश्वास कर लेता है।
अगर सत्य की अभीप्सा हो तो कोई किसी धर्म में, कोई किसी सिद्धांतों में कोई किसी संप्रदाय में आबद्ध नहीं हो सकता है। वह तो खोजेगा, निज खोजेगा, अपने सारे प्राणों की शक्ति लगा कर खोजेगा। और जो इस भांति खोजता

है, वह निश्चित पा लेता है। और जो भीतर विश्वास करता चला जाता है, वह जीवन को खो देता है। लेकिन जीवन-सत्य उसे उपलब्ध नहीं होता है।
स्वयं की खोज और श्रम हो तो ही सत्य मिलता है।
जो खोजता ही नहीं और मुफ्त में पा लेना चाहता है, वह भूल में है। सत्य
तो मुफ्त नहीं मिलेगा, हां, उसका स्वयं का जीवन जरूर मुफ्त में खो जाएगा। अपने आलस्य और प्रमाद में हम किसी के चरण पकड़ लेते हैं, हम किसी की बांह पकड़ लेना चाहते हैं और जीवन के समाधान को उपलब्ध हो जाना चाहते हैं! किसी गुरु की, किसी साधु की, किसी संत की छाया में हम भी तैर जाना चाहते हैं। यह असंभव है, यह बिल्कुल ही असंभव है। इससे ज्यादा असंभव कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। यह तो आंतरिक परतंत्रता है। यह तो आत्मिक दासता है। इसलिए, किसी की शरण से नहीं बंधना है, वरन अशरण होना है।
यही प्रश्न है कि कैसे हमारा चित्त स्वतंत्र हो, कैसे हम चित्त को स्वतंत्र करें और मुक्त करें? यह बंधा हुआ चित्त जो ढांचों में कैद है, इसे हम कैसे इन पिंजरों के बाहर ले जाएं? क्योंकि मनुष्य के सामने सबसे बड़ी समस्या उसके चित्त-मुक्ति की और स्वतंत्रता की है। प्रश्न परमात्मा का नहीं है, प्रश्न चित्त की स्वतंत्रता का है।
मेरे पास लोग आते हैं, पूछते हैः ईश्वर है? तो मैं उन्हें कहता हूं कि ईश्वर की फिकर छोड़ दो। मुझे यह बताओ कि तुम्हारा चित्त स्वतंत्र है? कोई मुझसे पूछे कि आकाश है, कोई मुझसे पूछे कि सूरज है, तो इसका क्या अर्थ हुआ? यही न कि उसकी आंखें बंद हैं? इसलिए उलटे मैं ही उससे पूछूंगा कि क्या तुम्हारी आंखें खुली हैं?
सूर्य तो है, लेकिन सूर्य के होने के लिए आंखों का खुला होना चाहिए। परमात्मा तो है, लेकिन परमात्मा को होने के लिए चित्त खुला होना चाहिए। बंधे हुए चित्त और बंद आंखें उसे कैसे देख सकती है? जो विश्वास में सोए हैं, उनकी आंखें बंद हैं और चित्त बंधा हुआ है।
जिसने कोई भी मान्यता बना ली है, कोई भी आस्था बना ली है, कोई भी धारणा बना ली है, जिसने जानने के पहले कोई मान्यता बना ली है, उस आदमी का चित्त बंद हो गया है, उसने अपने द्वार बंद कर लिए-और अब वह पूछता है कि परमात्मा है, सत्य है? निश्चित ही बंद मन के लिए न सत्य है, न परमात्मा है।
असली प्रश्न, असली सवाल, असली समस्या ईश्वर के होने, न होने की नहीं है; न आत्मा के होने, न होने की है; न सत्य के होने और न होने की है। असली समस्या है कि क्या वह चित्त आपके पास है, जो जान सके? उस चित्त के बिना कोई मार्ग जीवन की उपलब्धि का, जीवन की सार्थकता को जानने का न है, न कभी था और न कभी हो सकता है। केवल वही जान सकते हैं, जिनका विवेक परिपूर्ण रूप से मुक्त होकर जानने में समर्थ है।
कैसे हम अपने चित्त को मुक्ति की ओर ले जाएं? कैसे उसका द्वार खोलें, कैसे उसकी खिड़कियां खोलें, ताकि उनसे प्रकाश आ सके? कैसे हमारी आंखें खुलें और हम देख सकें उसे--"जो है?"
जब भी हम कुछ मान लेते हैं, तो हमारी आंखों पर पर्दा पड़ जाता है और हम उसे देख ही नहीं पाते जो कि है, बल्कि उसे देखने लगते हैं, जिसे कि हम मानते हैं! लोगों ने कृष्ण के दर्शन किए हैं, राम के दर्शन किए हैं, क्राइस्ट के दर्शन किए हैं, बुद्ध के दर्शन किए हैं! ये दर्शन हो सकते हैं, अगर वे किसी बात को मान लें, विश्वास कर लें, आग्रहपूर्वक चित्त में उसे ग्रहण कर लें। और निरंतर उसका स्मरण करें और निरंतर उसका विचार करें और अपने को आत्म-सम्मोहित कर लें। उपवास से और तप से, निरंतर चिंतन और मनन से, निरंतर विचार और विश्वास से अगर वे अपने आपको पूरा का पूरा प्रसुप्त कर लें, तो उन्हें अपनी कल्पना के दर्शन हो सकते हैं!
किंतु ऐसा दर्शन सत्य का दर्शन नहीं है। वह हमारी ही कल्पना का साक्षात है, वह हमारे ही विचार का दर्शन है। वह हमारी ही मान्यता का प्रक्षेपण है। यह हमारा ही स्वप्न है, जो हमने पैदा किया है। इसलिए दुनिया में अलग-अलग धर्मों के लोग अलग-अलग ढंग से दर्शन कर लेते हैं! वे दर्शन वास्तविक नहीं हैं।

वास्तविक दर्शन के लिए, परमात्मा जैसा है उसे जानने के लिए, सत्य जैसा
है उसे जानने के लिए जरूरी है कि हम अपनी सारी कल्पनाओं को और धारणाओं को छोड़ दें। हमारी सारी कल्पनाएं शून्य हो जाएं, हमारे सारे विचार विलीन हो जाएं, हमारे अपने भीतर कोई मान्यता न हो और तब हम देख सकेंगे। मान्यता-शून्य चित्त का जो दर्शन है, वह सत्य का दर्शन है।
मान्यता के आधार पर जो दर्शन है, वह अपनी ही कल्पना का प्रक्षेपण है, अपनी ही कल्पना का विस्तार है। इस तरह का दर्शन, धार्मिक दर्शन नहीं है।
इस तरह का दर्शन एक मानसिक कल्पना और स्वप्न-सृष्टि है। यह अनुभव वास्तविकता नहीं है, यह अनुभव स्वयं ही बनाई गई अपनी ही मानसिक सृजना है। हमने ही इसे निर्मित किया है।
और बहुत लोगों ने इस भांति परमात्मा के दर्शन किए हैं, किंतु वे परमात्मा के दर्शन नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा का कोई रूप नहीं है और उसका कोई आकार नहीं है। सत्य की कोई मूर्ति नहीं है और सत्य के कोई गुण नहीं हैं।
उस सत्य को, जो समस्त में व्याप्त है, जानने के लिए शून्य और शांत हो जाना जरूरी है। अगर मेरा चित्त बिल्कुल निर्विकल्प हो, शांत और सरल हो, अगर मेरे चित्त में कोई विचार न बहते हों, कोई कल्पना न उठती हो, अगर मेरा चित्त बिल्कुल ही मौन हो, तो उस मौन में ही वह जाना जाता है, जो है। उस मौन में ही कुछ जाना जाता है, उस शून्य में ही किसी से संबंध और संपर्क हो जाता है। उस शांति में ही कहीं न कहीं किसी अलौकिक सत्ता से संबंध स्थापित हो जाता है। वही संबंध, वही संपर्क, वही समझ, वही बोध, वही प्रतीति परमात्मा की प्रतीति है। उस सबको जानने के लिए जरूरी है कि जानने के पूर्व ही जो जाना हुआ जान लिया गया है, उसे विदा दी जाए। इसे ही मैं तथाकथित ज्ञान से मुक्त होना कहता हूं।
झूठे ज्ञान से सच्चा अज्ञान ही कहीं ज्यादा मित्र है। मिथ्या ज्ञान रात्रि है। जानने के लिए "मैं नहीं जानता हूं", यह जानना अत्यंत हितकर है। इसलिए उचित है कि हम विश्वासों के मिथ्याजाल को तोड़ दें। और शास्त्रों और सिद्धांतों की धूल को भी स्वयं के चित्त-दर्पण से झाड़ दें।
आह! कितने कूड़े-कर्कट से भरे हैं हम? कितने ग्रसित है हम! और कितने मरे हुए हैं हम! कितना ज्यादा विचार का, सिद्धांत का, शास्त्र का हमारे ऊपर भार है--हम उससे दबे जा रहे हैं! हजारों सालों से मनुष्य चिंतन करता है। और इन हजारों साल के चिंतन का भार एक-एक आदमी के सिर पर है। हजार-हजार वर्षो में जो भी विचार हुए हैं, उनका भार हमारे ऊपर है! इस भार के कारण चित्त मुक्त नहीं हो पाता है, ऊपर नहीं उठता है। हम जब भी विचार करना शुरू करते हैं, इसी भार के घेरे में घूमने लगते हैं, वह हमारा ढांचा है, उन्हीं में हम चलने लगते हैं! जैसे कोल्हू का बैल चलता है अपने रास्ते पर, वैसे ही हमारा चित्त चलता है!
इसके पहले कि किसी को सत्य के अज्ञात जगत में प्रवेश करना हो, उसे सारे ज्ञात मार्गों को छोड़ देना बहुत आवश्यक है। वह जो भी हम जानते हैं, उसे छोड़ देना जरूरी है, ताकि वह जाना जा सके, जो हम नहीं जानते हैं। अज्ञात के स्वागत में ज्ञात को हटाना ही होता हैं। ज्ञात को जाने दें, ताकि अज्ञात आ सके। जो भी हम मानते हैं। उसे हटा लेना है; ताकि उसका दर्शन हो सके, जो है।
एक तो हौजों में भरा हुआ पानी होता है। ऊपर से पानी भर देते हैं, ईंट-गारे से जोड़ देते हैं हौज को। ऊपर से पानी भर देते हैं। दूसरा कुएं का पानी होता है, उसमें जितनी भी मिट्टी और पत्थर हैं, उन्हें निकाल कर बाहर कर देते हैं और तब नीचे से जल-स्रोत आता है। हौज का पानी थोड़े ही दिन में गंदा हो जाएगा। वह ऊपर से भरा हुआ जो है। और कुएं के तो अपने जल-स्रोत हैं। उसका पानी गंदा नहीं होगा। उसका तो प्राणों का संबंध बहुत गहरे तल से है, जहां बहुत जल है। वह तो अंततः सागर से जुड़ा हुआ है। हौज किसी से नहीं जुड़ा है। वह तो ऊपर-ऊपर ही है और इसलिए निष्प्राण है। हौज तो मात्र देह है। कुएं की अपनी आत्मा भी है।

ऐसे ही दो तरह के ज्ञान भी होते हैं। एक तो हौज का ज्ञान होता है, जो ऊपर से भर दिया जाता है और बहुत जल्दी सड़ जाता है। इसलिए ही तो दुनिया में तथाकथित पंडितों के मस्तिष्क से सड़ा हुआ और जरा-जीर्ण मस्तिष्क और कोई नहीं होता। वह सोच-विचार करने में असमर्थ ही होता है। उसकी स्थिति अत्यंत पंगु होती है। उसमें विचार तो बहुत होते हैं, लेकिन विचारणा बिल्कुल भी नहीं होती है। सब भरा हुआ रहता है। वह उसी को दोहराता है! वह जड़-यंत्र की भांति होता है। इसलिए तो पंडितों की बातें बिल्कुल मृत और यांत्रिक होती हैं। उनसे कुछ भी पूछिए, सब पहले से तैयार है! प्रश्न बाद में है, समाधान पहले है! उत्तर उसे मालूम हैं! उत्तर ऊपर से भर दिए गए हैं। अब तो ऐसे यंत्र भी तैयार हो गए हैं, जिनसे आप प्रश्न पूछें और वे उत्तर दे दें! पंडितों की अब दुनिया में जरूरत नहीं रह जाएगी, क्योंकि अब तो उनका कार्य यंत्र ही कर देंगे! निश्चय ही उन यंत्रों को भी ज्ञान का भोजन वैसे ही कराना होगा, जैसा कि पंडितों को करना पड़ता है। उत्तर पहले सिखा दीजिए और फिर उत्तर ले लीजिए। वे यंत्र बस स्मृति-घर होंगे। विचार करना उनके बस में नहीं है। तोते--पंडितों के वश में भी वह कभी नहीं रहा है। एक अंतर जरूर होगा कि यंत्र पंडितों से ज्यादा कुशल होंगे! और उनसे एक सुविधा और होगी कि वे किसी को लड़ाएंगे नहीं, झगड़ा नहीं करवाएंगे। उनमें हिंदू, ईसाई और यहूदी का युद्ध खड़ा कराने की वृत्ति नहीं होगी।
यह ऊपर से भरा हुआ जो ज्ञान है, घातक है। यह मस्तिष्क को मुक्त नहीं करता है। मस्तिष्क को बांध देता है, खंडित कर देता है। उसकी उड़ने की क्षमता तोड़ देता है, उसके पंख नष्ट कर देता है। एक दूसरा ज्ञान है, जो भीतर से आता है, कुएं के जल की तरह आता है। निश्चित ही दोनों की प्रक्रिया बिल्कुल अलग और विरोधी हैं। कुएं में मिट्टी को, पत्थर को बाहर निकालना पड़ता है। और हौज में मिट्टी और पत्थर को जोड़ना पड़ता है। एक में पानी है और एक में पानी डालना पड़ता है।
क्या आप ज्ञान को हौज की तरह इकट्ठा कर रहे हैं? अगर इकट्ठा कर रहे हैं
तो सावधान हो जाएं, क्योंकि आप अपने ही हाथ से अपने मस्तिष्क को नष्ट कर रहे हैं। वह मस्तिष्क, जो कि परमात्मा तक उड़ सकता है, आप उसे अत्यंत पार्थिव भूमि पर बांध रहे हैं।
बाहर से ज्ञान न इकट्ठा करें, भीतर से ज्ञान को आने दें। भीतर से ज्ञान को आने देने के लिए यह जरूरी है कि ईंट, पत्थर जो इकट्ठे कर लिए हैं, वे अलग कर दिए जाएं। जितना ज्ञान हमने इकट्ठा कर लिया है, उसे हम हटा दें और सरल हो जाएं। यदि झूठे और सीखे हुए ज्ञान को हम हटा दें और सरल हो जाएं तो एक बिल्कुल ही अभिनव ऊर्जा का अनुभव होगा। कोई बिल्कुल ही नई चीज पैदा होनी शुरू हो जाएगी। वह तो सदा मौजूद है, किंतु व्यर्थ के ज्ञान का भार उसे प्रकट ही नहीं होने देता है!
लेकिन, जगत में संपत्ति को, पद को, परिवार को छोड़ना आसान है; विचार को छोड़ना कठिन है। निश्चित ही आप पूछेंगे, कैसे अलग कर दें? विचार तो छोड़ना बहुत कठिन है।
एक आदमी साधु हो जाता है। संपत्ति छोड़ देता है, घर छोड़ देता है; मित्र, प्रियजन छोड़ देता है; पत्नी तथा बच्चे छोड़ देता है। लेकिन जिन विचारों को उसने गृहस्थ रहते पकड़ा था, उनको नहीं छोड़ता है! उनको तो वह पकड़े ही रहता है! अगर वह जैन था तो वह कहता है कि मैं जैन साधु हूं! अगर वह मुसलमान था तो कहता है कि मुसलमान साधु हूं! अगर वह ईसाई था तो कहता है कि मैं ईसाई साधु हूं! जिन विचारों को उसने पकड़ा था, उन्हें पकड़े रहता है और सब छोड़ देता है! और गृहस्थी बाहर है, विचार की गृहस्थी भीतर है। और इसलिए ही कठिन है छोड़ने में। जो उसको छोड़ देता है, वह सत्य को जानने में समर्थ हो जाता है। घर-द्वार छोड़ने से कोई भी सत्य को कभी नहीं जान सकता है। क्योंकि सत्य
के मार्ग में घर की दीवार बाधा नहीं देती। मैं इस घर में बैठा हूं या दूसरे घर में बैठा हूं; ये दीवोलें कोई बाधा नहीं हैं, सत्य को जानने में। मैं किनके साथ बैठा हूं, यह भी कोई बाधा नहीं है। मैं कहां हूं, यह भी कोई बाधा नहीं है।

सत्य को जानने में एक ही चीज बाधक है। भीतर जो विचार की दीवार खड़ी हो जाती है, वही केवल बाधा है। और निश्चित ही उसका विसर्जन एक अति कठिन कार्य है! और जब मैं कहता हूं कि विचारों को छोड़ दें तो प्रश्न उठता है कि उसे कैसे छोड़ें? विचार की पकड़ कैसे जाएगी? वह तो निरंतर हमारे भीतर है। जो हमने सीख लिया है, उसे कैसे भूल सकते हैं?
जरूर जो सीख गया है, उसे भूलने का रास्ता होता है। और जो इकट्ठा किया गया है, उसे बांट देने का रास्ता होता है। और जो भर दिया गया है, उसे खोल देने का रास्ता होता है। असल में जो भीतर लाया गया है, उसे बाहर वापस पहुंचाने का रास्ता वही है, जिस रास्ते से वह भीतर लाया गया है। रास्ता हमेशा वही होता है। मैं जिन सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर आया हूं, उन्हीं सीढ़ियों से वापस चला जाऊंगा। और जिस रास्ते से आप सब आए हैं, उसी रास्ते से वापस लौटना होगा। रास्ता हमेशा वही होता है। आने और जाने में रास्ते का फर्क नहीं पड़ता, केवल दिशा का फर्क पड़ता है, मुंह को बदल देने का फर्क पड़ता है। जिन-जिन रास्तों से हमने विचार को इकट्ठा किया है, उनके विपरीत मुंह कर लेने से विचारों को विसर्जित भी किया जा सकता है।
किन-किन रास्तों से हमने विचार को इकट्ठा किया है?
विचार को इकट्ठा करने में सबसे महत्वपूर्ण और सबसे गहरा जो तल है, वह ममत्व का है--इस भाव का कि वे मेरे हैं। लगता है कि विचार मेरे हैं! लेकिन क्या कोई विचार आपका है? विवाद में आप कहेंगे कि मेरा विचार ठीक है। जरा विचार करिए, आपका कोई विचार है? या कि सब विचार बाहर से आए हैं? व्यर्थ ही हम कहते हैं कि मेरा विचार है!
जो लोग कहने लगते हैं कि मेरी कोई पत्नी नहीं है, मेरा कोई बच्चा नहीं, मेरा कोई मकान नहीं है, वे भी कहते हैं कि मेरा धर्म है! वे भी कहते हैं कि मेरा विचार है, मेरा दर्शन है! उनको भी विचार के तल पर जो ममत्व का भाव है, मेरे होने का भाव है, वह नहीं जाता है! और जिनका उस तल पर ममत्व नहीं गया है, उनका किसी तल पर ममत्व का भाव नहीं जाएगा! वह चाहे कितना कहे कि मेरी पत्नी यह नहीं है, लेकिन बहुत गहरे मन पर भाव रहेगा कि यह मेरी पत्नी है।
एक बड़े स्वामी अमेरिका से वापस लौटे थे। सारे यूरोप में, सारे अमेरिका में उन्होंने सत्य-दर्शन की चर्चा की थी। उनका बड़ा प्रभाव हुआ, लाखों-करोड़ों लोगों ने उन्हें पूजा और माना। फिर वे भारत वापस लौट आए। कुछ दिन तक हिमालय में थे। उनकी पत्नी उनसे मिलने गई। स्वामी ने मिलने से इनकार कर दिया! उन्होंने कहा, मैं नहीं मिलता!
उनके पास एक मित्र थे। वे बहुत हैरान हुए। उन्होंने कहा, मैंने कभी आपको किसी स्त्री से मिलने को इनकार करते नहीं देखा। यूरोप में, अमरीका में हजारों स्त्रियां आपसे मिलीं और आपने कभी किसी को इंकार नहीं किया! इस स्त्री को क्यों इनकार करते हैं? क्या आप किसी तल पर अब भी उसे अपनी पत्नी नहीं मान रहे हैं? जिसे छोड़ कर चले गए थे, उससे मिलने से क्यों इनकार कर रहे हैं? जरूर ही वे किसी तल पर मान रहे थे कि पत्नी उनकी है, अन्यथा और स्त्रियों से मिलने से इनकार उन्होंने कभी नहीं किया था!
जब तक आपका विचार का ममत्व है, तब तक आप इस भ्रम में मत रहें कि आप कुछ
भी छोड़ सकते हैं, क्योंकि असली पकड़ और संपत्ति तो केवल विचार की है। बाकी सारी चीजें बाहर हैं, उनकी कोई पकड़ नहीं है। पकड़ तो सिर्फ विचार की है। वह जो विचार का घेरा है, वह जो विचार की संपत्ति है, जिससे आपको लगता है कि मैं कुछ जानता हूं, विचारणीय है कि क्या उसमें कुछ भी आपका है?
एक बहुत बड़ा साधु था। कुछ दिन पहले उसके आश्रम में एक युवा संन्यासी आया। दो, चार, दस दिन तक उस संन्यासी की बातें सुनी। वह जो वृद्ध साधु था, उसकी बातें बड़ी थोड़ी सी थीं और युवा संन्यासी बिल्कुल थक गया उन्हीं- उन्हीं बातों को बार-बार सुन कर। उसने सोचा कि इस आश्रम को छोड़ो। यहां तो सीखने को कुछ दिखाई नहीं पड़ता!
और तभी एक संन्यासी का आगमन उस आश्रम में हुआ। रात्रि में उस अतिथि संन्यासी ने जो चर्चा की, वह बहुत अदभुत थी, बहुत गंभीर थी, बहुत सूक्ष्म थी, बहुत गहरी थी। उस युवा संन्यासी ने उसकी बातें सुनीं। उस आगंतुक

संन्यासी की, अतिथि की बातों से वह मोहित हो उठा और उसको लगा कि गुरु हो तो ऐसा हो, जिसके पास ऐसा ज्ञान हो--इतना गंभीर, इतना गहरा! और एक यह वृद्ध गुरु हैं, जिसके आश्रम में मैं रुका हूं, उसे कुछ थोड़ी सी बातें भर आती हैं और कुछ नहीं!
फिर उसे यह भी लगा कि यह वृद्ध संन्यासी उस अतिथि संन्यासी की बातें सुन कर मन ही मन में कितना दुखी होता होगा? निश्चय ही उसे अपमान का अनुभव हो रहा है, तभी तो वह आंखें बंद किए बैठा है! यह तो कुछ भी नहीं जानता है। जीवन इसने व्यर्थ ही गंवा दिया है!
उस नये आए साधु ने अपनी बात पूरी की और चारों ओर उसने सबकी तरफ देखा कि
उन पर क्या प्रभाव पड़ा है! उसने वृद्ध साधु की तरफ भी देखा। वह वृद्ध साधु बोला कि मैं दो घंटे से बहुत स्मृतिपूर्वक सुन रहा हूं, लेकिन मैं देखता हूं कि तुम कुछ बोलते ही नहीं!
अतिथि संन्यासी ने कहाः आप पागल तो नहीं हैं? मैं दो घंटे से बोल रहा हूं और आप दो घंटे से सुन रहे हैं और फिर भी कहते हैं कि बोलता नहीं!
वृद्ध साधु ने कहाः निश्चित ही मैंने बहुत-बहुत सुना है, लेकिन तुम कुछ भी नहीं बोले। जो भी कहा, सब दूसरों का कहा है! कोई विचार तुम्हारी अपनी अनुभूति से नहीं है! इसलिए मैं कहता हूं कि तुम नहीं बोले। दूसरे तुम्हारे भीतर से बोले, लेकिन तुम नहीं बोले! आह! तुम स्वयं में कितने रिक्त और खाली हो! लेकिन दूसरों की संपत्ति से तुमने अपना दारिद्रय जरूर ढांक लिया है।
विचार की मुक्ति के लिए और विचार की स्वतंत्रता के लिए और विवेक के जागरण के लिए पहली बात, पहला बोध यह है कि कोई भी विचार मेरा नहीं। विचार मात्र पराए हैं, उधार हैं, बासे हैं।
वह जो उनके प्रति मेरे होने का भाव है, मिथ्या है। वह भाव सत्य नहीं है। कोई विचार मेरा नहीं है। वह जो तादात्म्य है विचार से, उसे छोड़ दें। हम हर विचार से अपना तादात्म्य कर लेते हैं! हम कह देते हैं--जैन धर्म मेरा है, हिंदू धर्म मेरा है; राम मेरे, कृष्ण मेरे, क्राइस्ट मेरे! हम तादात्म्य कर लेते हैं। हम अपने में उनको जोड़ लेते हैं! बड़ा आश्चर्य है। वस्तुतः कोई विचार आपका नहीं है, कोई धर्म आपका नहीं है। यदि यह बोध स्मरणपूर्वक स्वयं में जाग्रत हो जाए तो एक मौलिक परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन ही नहीं, वस्तुतः क्रांति ही हो जाती हैं।
अपने सारे विचारों को फैला कर देख लें, वे कहीं से आए होंगे। जैसे वृक्षों पर पक्षी संध्या बसेरा करते हैं, ऐसे ही विचार मन में आते हैं और निवास करते हैं। आप केवल एक धर्मशाला की तरह हैं, जहां लोग केवल ठहरते हैं और चले जाते हैं।
एक सराय का मुझे स्मरण आता है। एक छोटी सी सराय थी। वहां कुछ लोग आ रहे
थे संध्या को ठहरने। कुछ लोग जिनका काम पूरा हो गया, वे संध्या को विदा हो रहे थे। मैं उस सराय के बाहर बैठा था और हंस रहा था। किसी ने मुझसे पूछा, आप हंसते क्यों है? मैंने कहा, इस सराय को देख कर मुझे अपने मन का ख्याल आता है, इससे हंसी आ रही है। ऐसे ही कुछ विचार आते हैं और चले जाते हैं। और मन केवल सराय है। और कोई भी विचार उसका अपना नहीं है।
मन केवल सराय है। वहां ठहरते हैं विचार और चले जाते हैं। जरा अपने मन
को गौर से देखें तो पता चलेगा कि कल जो थे, वे आज नहीं हैं। परसों जो विचार थे, वे आज नहीं हैं, साल भर पहले जो विचार थे, वे आज नहीं हैं। दस साल पहले जो विचार थे, वे आज नहीं हैं। बीस साल पहले जो विचार थे, उनका कोई पता नहीं है। इन पिछले सालों में जिनसे आप गुजरे और जीए हैं, लौटें और देखें कौन से विचार आपके रहे हैं? विचार आए हैं और गए हैं और आप केवल सराय हैं, ठहरने की जगह हैं। फिर भूल से समझते हैं कि वे मेरे हैं! जैसे ही समझ लेते हैं कि वे मेरे हैं, वैसे ही विचार को पकड़ मिल जाती है और दीवारें बननी शुरू हो जाती हैं।

विचार मुक्ति की दिशा में पहली स्मृति है यह जानना कि मैं और विचार भिन्न हैं। मैं सराय हूं। वे यात्री हैं। उनसे ममत्व भ्रांति है। उनसे तादात्म्य भूल है।
और जब यह दिखता है तो क्या होता है? विचार-प्रवाह और चैतन्य की धारा पृथक-पृथक हो जाती है। चेतना साक्षी बन जाती है। वह द्रष्टा मात्र रह जाती है। आप निश्चित ही देखने वाले से ज्यादा नहीं हैं। आप केवल वहां एक दर्शक हैं।
हम तो नाटक में भी तादात्म्य कर लेते हैं! हम तो सिनेमा, फिल्म में भी तादात्म्य कर लेते हैं! वहां फिल्म चलती हो और कोई दुखद चित्र आता है तो हमारे आंसू बहने लगते हैं! और यह छोटे-मोटे आदमी की बात नहीं है।
एक बहुत बड़े विचारक हुए हैं। वे विद्या के सागर ही कहे जाते थे। एक छोटा सा नाटक हो रहा था। उस नाटक को वे भी देखने गए। उस नाटक में एक खलनायक है, जो कि एक अबला के साथ अनाचार करता है, अत्याचार करता है। उसका अत्याचार जब चरम हो उठता तो उनसे बर्दाश्त करना संभव नहीं हुआ! वे इतने गुस्से में आ गए कि उठकर उन्होंने अपना जूता निकाला और उसको मार दिया नाटक में! किंतु वे भूल ही गए कि वह नाटक है! और वे विद्या के सागर समझे जाते थे!
किंतु वह अभिनेता उनसे कहीं ज्यादा समझदार था! उसने उसे, जूते को सिर-माथे ले लिया और कहा कि यह उसके जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है। निश्चय ही उसका अभिनय अदभुत रहा होगा; नहीं तो उसे इतना सत्य मान लेना कैसे संभव था? किंतु मित्र, जूते मारने वाले पर हंसें नहीं। हम सब यही रोज कर रहे हैं। हंसना ही है तो स्वयं पर हंसें। आप भी कोई कम विद्या के सागर थोड़े ही हैं।
जीवन में विचार के तल पर भी हम दर्शक से ज्यादा नहीं हैं, लेकिन हम विचार से तादात्म्य कर लेते हैं। वह जो विचार मन के पद पर आते और जाते हैं, उनके हम सिर्फ साक्षी हैं।
ख्याल करें, रात आपने स्वप्न देखे, सुबह आप उठे। आप कहते हैं कि स्वप्न आए और गए। आप बच्चे थे, अपने बचपन को देखा। फिर युवा हुए, फिर बूढ़े हुए। जरा ख्याल करें कि आपके भीतर कौन सा तत्व सदा साथ है। उसे खोजें जो निरंतर मौजूद है। सतत मौजूद है। सिवाय देखने वाले के और कोई मौजूद नहीं है। सब आता है और चला जाता है। बचपन आता है और चला जाता है। जवानी आती है, चली जाती है। बुढ़ापा आता है और चला जाता है। जन्म होता है, मृत्यु होती है। सुख आते हैं, दुख आते हैं। धूप आती है, छाया आती है, सम्मान आता है, अपमान आता है। लेकिन ये सारी चीजें आती हैं और जाती हैं।
पूरे जीवन में कौन सा तत्व है, जो न आता है और न जाता है। सिर्फ देखने वाले के सिवाय और कोई दूसरा तत्व नहीं है। वह जो इन सबको देखता है। वह जो देखता है कि धूप आई, वह देखता है कि धूप गई। वह देखता है कि युवा हुआ, वह देखता है कि बूढ़ा हुआ। वह देखता है कि एक विचार आया, वह देखता है कि वह विचार गया। एक देखने वाले सूत्र के सिवाय आपके भीतर बाकी सब आता और जाता है। बाकी कोई तत्व टिकता नहीं है। हां एक चीज टिकी रहती है। वह है देखने की शक्ति और देखने की क्षमता और द्रष्टा होने का, साक्षी होने का केंद्र--वह है हमारी चेतना।
विचार के तल पर साक्षी हो जाएं, विचार को देखें, पकड़ें नहीं। विचार से बंधें नहीं। उसे देखें। मात्र साक्षी होकर देखें। लेकिन हम साक्षी नहीं हो पाते, क्योंकि हमने मान रखा है कि कुछ विचार बुरे हैं और कुछ विचार अच्छे हैं। इसलिए हम अच्छे को पकड़ना चाहते हैं और बुरे को धक्का देना चाहते हैं। इसलिए हम साक्षी नहीं हो पाते हैं।
अच्छे और बुरे का जो भेद करता है, वह साक्षी नहीं हो सकता है।
जो अच्छे बुरे का भेद करता है विचार में, कि यह विचार अच्छा है, वह बुरा, तो स्वभावतः जो अच्छा है, वह उसे पकड़ना चाहता है और जो बुरा है, उसे हटाना चाहता है। विचार केवल विचार है। विचार न अच्छा होता है और न बुरा होता है। जैसे ही हमने अच्छा-बुरा कहा, वैसे ही हम एक को पकड़ने और दूसरे को छोड़ने में लग जाएंगे। इस पकड़-छोड़ में ही तो साक्षी खो जाता है।

और जो एक को पकड़ेगा और दूसरे को छोड़ेगा, वह समझ ले कि वह विचारों से कभी मुक्त ही नहीं हो सकता है, क्योंकि अच्छे और बुरे के मूल्य तो मनुष्य-निर्मित हैं, विचार तो बस विचार हैं। या तो विचार अपनी समग्रता में जाते हैं, या जाते ही नहीं हैं।
विचार कीशृंखला अखंड और एक है। उसके किसी खंड को बचाना और किसी से मुक्त होना असंभव है। वस्तुतः उसके खंड किए ही नहीं जा सकते हैं। अच्छे- बुरे दोनों विचार संयुक्त हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए एक पहलू को जो बचाता है, वह दूसरे को भी अनजाने ही बचा लेता है। जो एक को फेंकना चाहता है, उसे दूसरे को फेंकने की तैयारी भी करनी होती है। इसलिए जिसे हम अच्छा आदमी कहते हैं, तो यह न सोचें कि उसमें बुरे विचार नहीं हैं। उसके भीतर भी बुरे विचार हैं। ऐसा अच्छा आदमी आप खोज ही नहीं सकते हैं, जिसके भीतर बुरे विचार न हों। और ऐसा बुरा आदमी भी नहीं खोज सकते हैं, जिसके भीतर अच्छे विचार न हों।
हां, ऐसा आदमी जरूर होता है, जिसके भीतर विचार ही न हों। ऐसा दो स्थितियों में होता है कि या तो वह व्यक्ति जड़ हो, मूर्च्छित हो या फिर पूर्ण जाग्रत और चैतन्य हो। मूर्च्छा में भी विचार होते हैं, केवल प्रगट नहीं होते हैं।
विचार से वास्तविक मुक्ति तो पूर्ण बोध में ही होती है। ऐसे व्यक्ति
को ही मैं साधु कहता हूं। ऐसे व्यक्ति को ही मैं धार्मिक कहता हूं। वह न अच्छा है, न बुरा है। वह तो बस है। और उसका यह होना ही शुभ है, सत है, परम मंगल है। वह तो मनुष्य भी न रहा, वह तो परमात्मा से ही एक हो जाता है। ऐसा ही व्यक्ति जानता है और ऐसा ही व्यक्ति वस्तुतः जीता है। उसका जानना और जीना एक ही है।
लेकिन जो अच्छे को पकड़ता है, वह स्मरण रखे कि बुरा भी उसके भीतर रहेगा। अच्छा ऊपर होगा और बुरा भीतर। क्या आपको यह ज्ञात नहीं है कि जो तथाकथित सज्जन हैं, वे स्वप्न में वही काम करते हैं, जो दुर्जन दिन में, जागने में करता है। सज्जन वही सब करता है, जिससे वह स्वयं को जागने में करने से रोकता है।
बुरे आदमी बुरे स्वप्न नहीं देखते, अच्छे आदमी बुरे स्वप्न देखते हैं। अक्सर बुरे आदमी अच्छे स्वप्न देखते हैं। बुरे आदमी साधु होने के सपने देखते हैं, और अच्छे आदमी असाधु होने के सपने देखते हैं! स्वप्न जीवन के परिपूरक हैं। इसलिए ही तो तथाकथित साधुओं को अप्सराएं परेशान करती हैं। ये अप्सराएं उनके स्वप्नों के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं हैं।
चित्त जो-जो दमन करता है, वही-वही स्वप्न में रूप धर लेता है। स्वप्न जागरण का दूसरा पहलू है। चेतन से जिसे हम हटाते हैं, वह अचेतन में बस जाता है। इस भांति उससे छुटकारा नहीं है। उलटे उसकी पैठ तो ऐसे और भी गहरी और सूक्ष्म हो जाती है।
सज्जनों के मन खोले जा सकें तो ज्ञात होगा कि दुर्जनों के बराबर ही पाप वे भी कर लेते हैं। यह भेद जरूर है कि वे उन्हें मन ही मन में करते हैं।
लेकिन चेतना के लिए इससे कोई भेद नहीं पड़ता है। समाज के लिए तो अंतर पड़ता है, किंतु स्वयं के लिए नहीं।
दुर्जन भी भलाइयों की कल्पना करते हैं, वे भी उनका स्वप्न देखते हैं।
असल में दोनों बातें सदा साथ रही हैं। उनमें एक से ही छुटकारा असंभव है।
और जो पहलू नीचे दबा रहता है, वह कभी भी ऊपर आ सकता है। इसलिए ही तो तथाकथित साधु असाधु और असाधु साधु होते देखे जाते हैं। यह केवल करवट बदलना है। इससे कोई वास्तविक क्रांति नहीं होती है। अच्छे आदमी में बुरा आदमी छिपा है, बुरे आदमी में अच्छा!
शुभ की आड़ में अशुभ है और अशुभ के नीचे ही शुभ। वैसे ही जैसे सिक्के का चेहरा हम ऊपर कर लें तो पीठ नीचे चली जाती है और पीठ ऊपर कर लेते हैं तो सिक्के का चेहरा नीचे चला जाता है। इस सत्य को ठीक से समझ लें कि अच्छा और बुरा एक ही तथ्य के दो पहलू हैं।

जिसको साक्षी होना है और सत्य को जानना है, उसे समस्त विचार को समान विचार समझना होगा। न कोई अच्छा है, न कोई बुरा है, क्योंकि जैसे ही हमने यह तय किया कि कुछ अच्छा है, कुछ बुरा है, वैसे ही हम एक को पकड़ने में और दूसरे को हटाने में लग जाएंगे और साक्षी नहीं रह जाएंगे।
साक्षी होने के लिए जरूरी है कि हम निष्पक्ष हों, हमारी कोई धारणा न हो, हमारी कोई कल्पना न हो, हम कुछ आरोपित न करना चाहते हों। विचार जैसे हों, हम उन्हें वैसे ही देखने को राजी हों। न उनकी प्रशंसा और न निंदा। उनके प्रति कोई दृष्टि नहीं। बस, मात्र दर्शन--तटस्थ दर्शन। कोई निर्णय नहीं। कोई मूल्यांकन नहीं, बस दर्शन। निपट दर्शन।
विचारों के प्रति सीधे और सरल साक्षी होना एक अदभुत घटना है। उसमें बड़ा आश्चर्य और रहस्य निहित है। क्योंकि विचारों के सहज और सरल निरीक्षण में विचार तिरोहित होने लगते हैं। और अंततः एक अवर्णनीय मौन, एक अखंड शांति और एक अज्ञात शून्य ही शेष रह जाता है। इस मौन में साक्षी ही शेष बचता है। विचारों का तटस्थ दर्शन उनके प्रति सारे संबंध तोड़ देता है।
और जहां विचारों के प्रति न राग है, न विराग है, वहां वे सहज ही आना बंद
कर देते हैं। राग-विराग के जाते ही उनके आगमन और ठहरने के मूल कारण का ही विच्छेद हो जाता है। लेकिन जब तक विचारों के प्रति शुभ-अशुभ के निर्णय की वृत्ति होती है, तब तक यह नहीं हो पाता है। वह वृत्ति चित्त के मौन और शून्य होने में बाधा बन जाती है।
विचारों को किसी भी पक्ष और भाव के बिंदु से देखना, उनसे बंधने और उलझने और ग्रसित होने का आधार है। इस आधार को ही देखे बिना, जो उनसे लड़ता है, वह व्यर्थ ही लड़ता है। वह जानता ही नहीं है कि स्वयं उसकी लड़ाई ही उन्हें प्राण दे रही है। मित्र भी हमको घेरे रहते हैं और शत्रु भी हमको घेरे रहते हैं। एक बार चाहे मित्र न भी घेरें, लेकिन शत्रु जरूर घेरे रहते हैं। वे हमारे चित्त में घूमते ही रहते हैं। मित्रता और शत्रुता--दोनों ही चेतना को विचारों से बांधने के कारण बनते हैं। इसलिए मैंने कहा कि उन्हें न राग से देखें, न विराग से। वीतराग दर्शन के अतिरिक्त उनसे मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है। वस्तुतः उस दर्शन में उनकी जड़ें ही नष्ट हो जाती हैं।
यदि कोई व्यक्ति कामिनी को या कंचन को बुरा मान कर उनसे भागने लगे तो
वह पाएगा कि चौबीस घंटे वे ही विचार उसे घेरे हुए हैं! सोते जागते वह उनमें ही डूबा रहेगा! और जितना वह स्वयं को उनमें डूबा हुआ पाएगा, उतना ही भयभीत होगा। और जितना भयभीत होगा, उतना ही उनसे और तीव्रता से भागेगा। और जितना भागेगा, उतना ही और डूबेगा! ऐसे उसके जीवन में एक दुष्चक्र पैदा होगा, जो कि बिल्कुल आत्म-चलित यंत्र सा गति करेगा। ऐसे मोक्ष तो नहीं, नरक जरूर ही निकट आ जाता है।
जिस विचार से आप लड़ते हैं, वही विचार आपका आमंत्रण स्वीकार कर लेता है। जिससे आप लड़ते हैं, वही आने लगता है। मन का नियम है कि जिससे लड़ेंगे, वही आमंत्रित होगा। जिसको आपने धक्का दिया, वह आपके धक्के के कारण ही आना शुरू हो जाएगा। इसलिए विचार से न तो डरना है और न उसे डराना है। न उसे पकड़ना है, न उसे धक्का देना है। उसे तो मात्र देखना है। निश्चय ही इसमें बड़ी सजगता की जरूरत है, क्योंकि बुरा भी विचार आएगा और आदतवश मन होगा कि उसे धक्का दे दें। और अच्छा भी विचार आएगा और मन होगा कि पकड़ लें।
इस मन की यह जो पकड़ने और धक्का देने की प्रवृत्ति है, वह सहज आदत है। बोधपूर्वक, स्मृतिपूर्वक अगर कोई उस पर ध्यान करेगा तो वह वृत्ति धीरे- धीरे शिथिल हो जाएगी, और वह विचार को देखने में समर्थ हो जाएगा। और जो व्यक्ति विचार को देखने में समर्थ हो जाता है, वह वस्तुतः विचार से मुक्त होने में भी समर्थ हो जाता है।
हम विचार को कभी देखते ही नहीं। हम कभी रुक कर, ठहर कर देखते नहीं कि कहां क्या चल रहा है। आपने शायद ही कभी देखा हो। आधा घंटा बैठ कर आपने कभी देखा है कि क्या आपके भीतर चल रहा है? वह चल रहा है, और आप भी चले जा रहे हैं और आप काम किए जा रहे हैं! वह चल रहा है, आप खाना खा रहे हैं! वह चल रहा है, आप लिख रहे हैं, बोल रहे हैं! वह चल रहा है और आप सुन रहे हैं, वह भीतर चलता

ही जाता है! वह अलग ही चलता जा रहा है! धीरे-धीरे आपने उसकी फिकर ही छोड़ दी है!
आपको ध्यान ही नहीं है कि भीतर क्या चल रहा है और आप अपना दैनंदिन कार्य बिल्कुल यंत्र की भांति ही किए जा रहे हैं! इसलिए आप करीब-करीब सोए हुए आदमी हैं। भीतर मन कुछ और कर रहा है, आप कुछ और किए जा रहे हैं! आप अनुपस्थित आदमी हैं, आप अपने प्रति उपस्थित नहीं हैं, आप अपने प्रति जागे हुए नहीं हैं।
महावीर से किसी ने एक दिन पूछा कि साधु कौन है? महावीर ने कहाः असुत्ता मुनि। जो सोया हुआ नहीं है, वह साधु है! पूछाः असाधु कौन है? उन्होंने कहाः सुत्ता अमुनि। सोया हुआ असाधु है!
अदभुत सूत्र है। वस्तुतः जो सोया है, वह जीवित नहीं है। वह नाम मात्र
को ही जीवित है। वह तो मृत ही है। और हम सारे लोग सोए हुए हैं। हम भीतर क्या चल रहा है, उसके प्रति बिल्कुल सोए हुए है! और वह भीतर ही हमारा असली होना है। हम उसके प्रति सोए हुए हैं! बाहर क्या चल रहा है, बाहर क्या हो रहा है, उसके प्रति जाग्रत हैं! "जो बाहर चल रहा है, उसके प्रति जागे हैं; जो भीतर चल रहा है, उसके प्रति सोए हैं! यही जीवन का दुख है और यही जीवन का अज्ञान है। और यही जीवन की परतंत्रता है। और यही जीवन का बंधन है।
उसके प्रति जागना होगा, जो भीतर चल रहा है। विचार की समस्त धारा के प्रति जो जागेगा, समझेगा, साक्षी होगा, वह एक बड़े अदभुत अनुभव से गुजरता है, उसे अनुभव में आना शुरू होता है कि जिन-जिन विचारों का वह साक्षी हो जाता है, वे-वे विचार आने बंद हो जाते हैं। जिस-जिस विचार को वह देखने में समर्थ हो जाता है, वे-वे विचार आने में असमर्थ हो जाते हैं और एक घड़ी आती है कि विचार नहीं रह जाते हैं और तब जो शेष रह जाता है, उसका नाम ही विवेक है। विचार दूसरों के हैं, विवेक स्वयं का है। विचार पराए हैं, विवेक आत्मा है। यह विवेक ही वह प्रज्ञा है, जो प्रकाश में और परमात्मा में जगाती है। विचारों के जाने और विवेक के आने की घड़ी से बड़ी सौभाग्य की और कोई घड़ी नहीं है। उस घड़ी में ही विचार नहीं होते हैं और आप होते हैं। बस, आप ही होते है। इस स्वयं की निर्धूम सत्ता में ही जो ज्योतिशिखा जग उठती है, वही मुक्त विवेक है, वही स्वतंत्र हुआ विवेक है। यही स्वतंत्र विवेक सत्य को जानने में समर्थ होता है। परतंत्र विवेक सत्य को जानने में असमर्थ होता है। स्वतंत्रता पहली भूमिका है। यह स्वतंत्रता साधनी ही होगी। इसे साधे बिना कभी कोई सत्य के संबंध में गति नहीं होगी। कितने ही शास्त्र पढ़ें, कितने ही शब्द समझें, कितने ही सिद्धांत याद कर लें, बस शब्द ही याद हो जाएंगे और कुछ भी नहीं होगा। और शब्द मस्तिष्क को व्यर्थ ही भर देंगे। और बहुत शब्द किसी ज्ञान का लक्षण नहीं है।
शब्द तो पागल में भी बहुत होते हैं, आपसे ज्यादा होते हैं, लेकिन शब्द कोई ज्ञान का लक्षण नहीं है। और यह भी आप निश्चित समझें कि बहुत शब्द बढ़ जाएं तो आप भी पागल हो सकते हैं। पागल में और सामान्य में, पागल में और हममें कोई बहुत भेद नहीं है। हममें शब्द थोड़े कम हैं और उसमें थोड़े और ज्यादा हो गए हैं।
हर आदमी पागलपन के किनारे पर खड़ा रहता है। जरा धक्का लगा कि पागल हो सकता है। शब्द अगर और जोर से बोलने लगे तो वह पागल हो जाएगा। मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि हर तीन आदमियों में एक आदमी तो करीब-करीब पागल होने की हालत में ही है! हर तीन आदमी में! यहां जितने लोग हैं, उनमें से तीन में से एक तो पागल होने की हालत में है ही। और आप यह मत सोचना कि आपका पड़ोसी इस हालत में है। क्योंकि यह इस बात का लक्षण है कि आप गड़बड़ हालत में हैं।
अगर आपको यह ख्याल आ जाए कि मेरा पड़ोसी गड़बड़ हालत में है, तो समझना कि
आप भी गड़बड़ हालत में हैं। क्योंकि पागल यह कभी नहीं समझ पाता कि वह स्वयं पागल है। वह तो हमेशा समझता है कि दूसरा ही पागल है। यानी पागल का यह अनिवार्य लक्षण है कि वह हमेशा यह समझता है कि दूसरे लोग पागल हैं! पागल को आप समझा नहीं सकते कि वह पागल है, क्योंकि अगर इतना ही वह समझ जाए तो सबूत हो गया कि वह पागल नहीं है। हम करीब-करीब उस हालत में पहुंचते जा रहे हैं!

प्रतिदिन लाखों व्यक्ति स्वयं को विक्षिप्तता के आक्रमण में घिरा पाते हैं! जल्दी ही वह समय आ जाएगा कि सभ्य संसार में घरों के समक्ष लगी सबसे ज्यादा तख्तियां मनोचिकित्सकों की होंगी! आज भी जो देश बहुत प्रगतिशील हैं, वहां वैसी स्थिति आनी शुरू हो ही गई है!
शायद अकेले अमेरिका में ही पंद्रह से तीस लाख व्यक्ति रोज अपने मानसिक रोगों के लिए विशेषज्ञों से सलाह लेते हैं! उनकी बीमारी क्या है? विचारों की बीमारी है। विचार बढ़ते जाते हैं और उनका होश क्षीण होता जाता है, एक सीमा पर संतुलन खो जाता है। विचार अबाध और असंगत और अनियंत्रित गति से घूमने लगते हैं। स्वयं में तो शांति कभी भी नहीं थी, लेकिन अब उस अशांति की तरंगें बाहर भी आने लगती हैं। स्वयं में जागृति कभी भी नहीं थी, लेकिन अब भीतर की मूर्च्छा दैनंदिन कार्यों को भी प्रभावित करने लगती है। यह कोई नई स्थिति नहीं है! बस मात्रा-भेद है। विचारों की मात्रा भर बढ़ गई है। यही मूर्च्छा विक्षिप्तता बन जाती है।
आप भी देखें--जागें और देखें कि क्या आपमें भी विचार की ऐसी ही विक्षिप्त गति नहीं है, --ऐसी मात्रा और तीव्रता नहीं है? दस मिनट बैठ जाएं और जो-जो विचार आएं, उन्हें लिखें ईमानदारी से। उनमें से एक भी न छोड़ें, जो भी आए--आधा आए तो आधा लिखें, पूरा आए तो पूरा लिखें। दस मिनट एक कागज पर लिखें और फिर किसी को दिखाएं। वह कहेगा कि यह किसी पागल ने लिखा है। और यदि आपको यह खुद ही समझ में आ जाए कि यह किसी पागल ने लिखा है तो जानना कि पागलपन के करीब तो आप हैं, लेकिन अभी कुछ किया जा सकता है!
जो आपके भीतर चल रहा है, वह उघाड़ कर देखा जा सके तो आप खुद घबरा जाएंगे
कि मैं कैसा पागल हूं, क्योंकि यह क्या चल रहा है, यह क्या मेरे भीतर हो रहा है। लेकिन हम कभी रुक कर देखते नहीं कि वहां भीतर क्या हो रहा है और हम समझते हैं कि हम बहुत विचारवान हैं!
मित्र, मात्र विचारों से भरा होना, विचारवान होना नहीं हैं। विचार को, विवेक को, ज्ञान को तो केवल वही उपलब्ध होता है, जो कि विचारों से मुक्त हो जाता है। विचारों की भीड़ के कारण कोई विचारवान नहीं होता। सभी पागल ऐसा समझते हैं! और इसीलिए आपको यह पता हो जाना चाहिए कि जो तथाकथित विचारक अतिविचार में पहुंच जाते हैं, वे पागल हो जाते हैं।
क्या आपको ज्ञात है कि संसार में जो बड़े-बड़े विचारक, कवि, लेखक और चित्रकार हुए हैं, उनमें से बहुतों ने अंततः पागलखानों में शरण ली है? मुझे तो ऐसा लगने लगा है कि अब जो और दूसरे विचारक पागल नहीं हैं, वे जरूर कुछ थोड़े कम विचारक होंगे। एक वक्त आ जाएगा कि जो विचारक पागलखाने होकर न आया हो, हम समझेंगे कि कोई छोटी कोटि का विचारक है। ठीक भी है।
विचार की अंतिम परिणति पागलपन में है, विक्षिप्तता में है।
इसलिए महावीर को, बुद्ध को, क्राइस्ट को, लाओत्सु को मैं विचारक नहीं कहता हूं। वे विचारक नहीं हैं, ज्ञानी हैं। ज्ञानी और विचारक में जमीन आसमान का अंतर है। जो जानते हैं, वे विचार नहीं करते हैं। और जो नहीं जानते हैं, वही केवल विचार करते हैं। मैं यहां बैठा हूं, सभा खत्म होगी, हम सब उठेंगे और दरवाजे से निकल जाएंगे। कोई विचार नहीं करेगा कि दरवाजा कहां है, क्योंकि दरवाजा हमें दिखाई पड़ रहा है।
लेकिन एक अंधा आदमी यहां बैठा हो, जैसे ही सभा खत्म होगी, वह सोचेगा कहां से जाऊं, कहां दरवाजा है, कहां द्वार है, वह विचार करेगा!
जो देख सकता है, वह विचार नहीं करता। जो नहीं देख सकता है, वह विचार करता है। विचार अज्ञान का लक्षण है। वह ज्ञान का लक्षण नहीं है। तो जितना ही आप विचार करते हैं, समझें कि उतना ही ज्यादा गहन आपका अज्ञान है। विचारों से उस अज्ञान को ही भरने की तो कोशिश चलती है। वह प्रयास एकदम थोथा और व्यर्थ है। वह तो वैसा ही है, जैसे कि कोई अंधा आदमी प्रकाश के संबंध में विचार इकट्ठा कर आंखों की कमी पूरी करने के ख्याल में हो। अंधापन आंखों से मिटता है और अज्ञान भी। विवेक की आंखें न हों, तो विचारों की भीड़ बस विक्षिप्त ही कर सकती है। और विक्षिप्त अंधे से साधारण अंधा ही बेहतर होता है।

ज्ञान उत्पन्न हो तो विचार क्षीण हो जाएगा, शून्य हो जाएगा। मैंने कहा कि विचार को देखें और उसको क्षीण होने दें।
सजग होने से विचार शून्य होता है, साक्षी होने से विचार शून्य होता है।
और जब विचार शून्य हो जाता है तो विवेक मुक्त हो जाता है।
फिर वह विवेक शास्त्र से नहीं है, सिद्धांत से नहीं है। सत्य को जानने में उसकी गति हो जाती है। स्वतंत्र विवेक छोड़ देता है किनारा। वह अनंत सागर में प्रवेश करता है।
एक छोटी सी कहानी कह कर अपनी चर्चा को पूरी करूंगा।
एक रात कुछ मित्र मौज में थे और उन्होंने कहीं जाकर खूब शराब पी। फिर
वे सोचें कि चांद पूरा है, रात बहुत सुंदर और रम्य है। चलो हम चलें और एक झील में नौका-यात्रा करें। वे गए और एक नाव में बैठे और यात्रा शुरू की। उन्होंने पतवारें उठाईं और पतवारें चलाईं। वे रात के आखिरी पहर तक नाव चलाते रहे।
फिर सुबह की ठंडी हवाएं आने लगीं और चांद डूबने को होने लगा। ठंडी हवाओं ने उनके नशे को उखाड़ दिया। कुछ लोग ताजे हुए और उन्होंने कहा कि हम बहुत दूर निकल आए। अब वापस लौटें, क्योंकि घर पहुंचते-पहुंचते दोपहर हो जाएगी, इतने दूर निकल आए हैं अपने किनारे से। ऐसा सोच वे तट पर उतरे, यह देखने को कि कहां हैं, और तट पर जो थे उनसे पूछने को कि कहां हैं। लेकिन तट पर उतरते ही वे हैरान हो गए! वे कहीं भी नहीं गए थे! नाव वहीं खड़ी थी, क्योंकि वे जंजीर खोलना भूल गए थे! उस नाव की जंजीर वहीं बंधी थी! उन्होंने नाव की पतवार बहुत चलाई, लेकिन वे कहीं पहुंच न सके! वे तो ठगे से रह गए, क्योंकि वे व्यर्थ ही रात भर परेशान हुए। और बड़ा सोचते थे कि बड़ी यात्रा हो गई है, किंतु वहीं के वहीं खड़े थे!
मैं कहता हूं कि जीवन में भी ऐसा ही होता है। जिसका विचार और विवेक मुक्त होना चाहता है, उसे विश्वास के किनारे से जंजीर खोलनी है। और जिसकी विश्वास से जंजीर बंधी है, वह स्मरण रखे कि सत्य के जगत में उसकी, कोई यात्रा नहीं हो सकती! वह कहीं नहीं पहुंचेगा। अंत में वह पाएगा कि जहां से उसने प्रारंभ किया था वह वहीं खड़ा है! यात्रा व्यर्थ हुई, पतवार चलाना व्यर्थ हुआ। समाज ने, परंपरा ने उसे जो विचार दिए थे, उन्हीं विश्वासों पर वह खड़ा है मरते वक्त। ऐसे आदमी का जीवन दुर्भाग्य है, उसकी यात्रा व्यर्थ हो गई। वह नाव और उसकी जंजीर को किनारे से खोलना भूल गया।
किनारे से खोल लें अपनी जंजीर को। समाज ने जो दिया है, किसी दूसरे ने
जो दिया है, उससे अपनी जंजीर को खोल लें और विवेक को मुक्त होने दें। मुक्त विवेक ही परमात्मा तक ले जाने में पथ बनता है। और बंधन, विचार और विश्वास परमात्मा को रोकने वाली जंजीरें हो जाती हैं। हम सब जंजीरों में बंधे हैं। इन जंजीरों में बंधे होने के कारण परमात्मा का अनुभव नहीं हो पाता है। साहस करें और जंजीर को छोड़ दें और फिर देखें कि आपकी नाव कहां जाती है। मैं अंत में यही प्रार्थना करता हूं अपनी नाव को खोल लो, अपनी नाव के पालों को तो उड़ाओ। परमात्मा की हवाएं उसे हमेशा अनंत में ले जाने को तैयार हैं।
मित्रो, अपनी नाव को तो खोलो, अपनी पालों को तो उड़ाओ। परमात्मा की हवाएं आपकी सदा से प्रतीक्षा कर रही हैं। और सत्य का अज्ञात सागर आपको बुला रहा है! क्या उसकी पुकार आपको सुनाई नहीं पड़ती है?
धन्य हैं वे लोग, जो उसकी पुकार सुन लेते हैं। और जो अपनी नाव खोल लेते हैं और अपने पाल खोल लेते हैं। और अभागे हैं वे लोग, जो अपनी नाव को बांधे रहते हैं और श्रम करते हैं और अंत में असफल हो जाते हैं।
प्रभु आपको सामर्थ्य दे कि आप अनंत की पुकार पर यात्रा पर निकल सकें
और आपकी नाव खुल सके। विश्वास के किनारे से ज्ञान के असीम सागर में आपका प्रवेश हो सके।
स्मरण रहे कि जो साहस करते हैं, परमात्मा उनके साथ है। और जो कमजोर हैं, रुके रह जाते हैं, परमात्मा उनके लिए क्या कर सकता है!